

श्रीमद् भगवद्गीता

मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, व्याख्या
तथा श्री गीताचालीसा सहित

रामानन्द प्रसाद, पी.एच.डी.

INTERNATIONAL GITA SOCIETY, USA

Economy 4th. Edition, 2012

Hindi Translation of Fourth English Edition, 2005

Fourth Revised English Edition, 2004

Third Revised English Edition, 1999

Reprints: 1997, 1998, 2003

Second Revised and Enlarged Indian (English) Edition, 1996

(Published by Motilal Banarsidass in India)

First English Edition, 1988

Copyright © 2012-2022 The International Gita Society

511 Lowell Place, Fremont, Ca 94536, USA

Visit: www.gita-society.com

All rights reserved. This book, or parts thereof, may not be reproduced in any form without a written permission from the Publishers in India or the International Gita Society (IGS) in U.S.A. Readers interested in the subject matter of this book are invited by the IGS to correspond sanjay@gita-society.com.

Also available in India at:

MOTILAL BANARSIDASS

41 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi 110 007

8 Mahalaxmi Chamber, 22 Bhulabhai Desai Rd, Mumbai 400 026

236, 9th Main III Block, Jayanagar, Bangalore 560 011

120 Royapettah High Road, Mylpore, Chennai 600 004

Sanas Plaza, 1302 Baji Rao Road, Pune 411 002

8 Camac Street, Kolkata 700 017

Ashok Rajpath, Patna 800 004

Chowk, Varanasi 221 001

इस अनुवाद के बारे में—

श्रीमद्भगवद्गीता का यह सुबोध, प्रांजल प्रस्तुतीकरण जनसाधारण और विशेषज्ञ दोनों के लिए ही अतीन्द्रिय ज्ञान के विशाल सागर में प्रवेश करना सुलभ बनाता है। महत्त्वपूर्ण श्लोकों को गीता का पाठ प्रथम बार करनेवालों के लिए **रेखांकित मोटे अक्षरों (underlined bold)** में लिखा गया है और मुख्य श्लोकों की ही अर्थपूर्ण व्याख्या की गई है, ताकि पाठक सीधे ही उनका मूल अर्थ-विन्दु पा सके। साथ ही, यह ग्रन्थ विशिष्ट अध्येताओं के लिए भी है। मूल संस्कृत पाठ को पाठन-सुलभ बनाने के लिए नए ढंग से शब्द-विच्छेद करके प्रस्तुत किया गया है।

विभिन्न प्रमुख धर्मों और मत-मतान्तरों के सन्तों और विश्व के महान पुरुषों और विद्वानों के आप्त वचनों का समावेश भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

सभी धर्मों की मूलभूत एकता का दिग्दर्शन कराने तथा मानव जाति के वैश्विक धर्म का प्रचार करने में सहायक होने के निमित्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, भक्तिसूत्रों, पुराणों, मनुस्मृति, रामायणों, महाभारत तथा विश्व के अन्य प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों — बाइबिल, धम्मपद, कुरआन आदि — से उदाहरणों का समावेश किया गया है। दैनिक स्वाध्याय के लिए अनेक मंत्र, ध्यानयोग प्रक्रिया और गीता के चालीस श्लोक (श्रीगीताचालीसा) भी यहां प्रस्तुत हैं।

हमारा लक्ष्य और उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी संयुक्तराज्य अमेरिका में एक पंजीकृत, लाभ-निरपेक्ष, आयकर-मुक्त आध्यात्मिक संस्थान है, जो श्रीमद्भगवद्गीता के माध्यम से मानवता की सेवा करने और जन सामान्य में प्रबुद्धता जाग्रत करने के ध्येय से १९८४ में स्थापित की गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी के लक्ष्य और उद्देश्य हैं —

१. श्रीमद्भगवद्गीता का अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशन और नाममात्र सहयोग-राशि-मूल्य पर प्रसार करना तथा भारत और अमेरिका से आरम्भ कर विश्वभर में गीता का पुस्तकालयों, अस्पतालों, होटलों, मोटलों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में वितरण करना, जैसा कि अमेरिकन बाइबिल सोसायटी विश्वभर में बाइबिल का प्रचार-प्रसार करती है।

२. श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों की मूल असाम्प्रदायिक सार्वभौमिक शिक्षा का सहज-सरल भाषा में अनुवाद द्वारा प्रसार और उसके लिए देश-देश में सोसायटी की शाखाओं की स्थापना करना।

३. गीता-अध्ययन और सत्संग सभाओं की स्थापना में सहयोग और मार्गदर्शन देना तथा युवा, छात्र-वर्ग और व्यस्त व्यावसायिक प्रशासकों एवं अन्य रुचि रखनेवालों में गीता का पत्राचार द्वारा निःशुल्क प्रशिक्षण करना।

४. वैदिक ज्ञान के अध्ययन और प्रसार में जुटे अन्य व्यक्तियों तथा लाभ-निरपेक्ष संस्थाओं को प्रेरणा, सहयोग और सहायता देना तथा आध्यात्मिक, तत्त्वज्ञान, ध्यानयोग आदि पर व्याख्यानो, परिसंवादों और संक्षिप्त पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करना।

५. वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण तथा विश्व के अन्य प्रमुख धर्मग्रन्थों – धम्मपद, बाइबिल, कुरआन आदि – की शाश्वत असाम्प्रदायिक शिक्षा के माध्यम से विभिन्न धर्मों के बीच की खाई को पाटना तथा सब वर्णों, जातियों, धर्मों और वर्गों में एकता पैदा करना एवं मानव जाति में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करना.

“गीता पढ़ो, आगे बढ़ो”

लेखक के बारे में—

डाक्टर रामानन्द प्रसाद सानफ्रान्सिसस्को खाड़ी क्षेत्र के अनेक जनसेवी संस्थानों के प्रस्थापक सदस्य हैं. उन्होंने ने अमेरिकन/अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के माध्यम से मानवता की सेवा करना और महान् मनीषियों तथा विश्व के अन्य प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों के माध्यम से संसार की सभी संस्कृतियों, जातियों, धर्मों तथा मतों के बीच एकता स्थापित करना है.

इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ टैकनोलोजी, खड़गपुर से स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद उन्होंने ने यूनिवर्सिटी ऑफ टोराण्टो से एम.एस. की उपाधि प्राप्त की और यूनिवर्सिटी ऑफ इलीनाय से सिविल इंजीनियरिंग में पी.एच.डी. की. डाक्टर प्रसाद राज्य और केन्द्र की सरकारों में कार्यरत रहने के साथ साथ अध्यापक, शोधकर्ता और सलाहकार के रूप में भी काम करते रहे हैं.

वर्तमान में वे सानहोजे स्टेट यूनिवर्सिटी में सिविल इंजीनियरिंग के प्राध्यापक हैं. साथ ही वे ग्रेज्युएट कॉलिज ऑफ दी यूनियन इंस्टीच्यूट ऑफ सिनसिनेटी, ओहायो, में धर्म और मनोविज्ञान के अनुबन्धित प्राध्यापक भी हैं.

संदर्भ ग्रन्थों के संक्षिप्त रूप

०१ ऐत.उ.	ऐतरेय उपनिषद्	१४ मु.उ.	मुण्डक उपनिषद्
०२ अथ.वे.	अथर्ववेद	१५ ना.भ.सू.	नारदभक्तिसूत्र
०३ भा.पु.	भागवत महापुराण	१६ प्र.उ.	प्रश्न उपनिषद्
०४ बृह.उ.	बृहदारण्यक उपनिषद्	१७ प.यो.सू.	पतञ्जलि योगसूत्र
०५ ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र	१८ ऋ.वे.	ऋग्वेद
०६ छा.उ.	छान्दोग्य उपनिषद्	१९ शा.भ.सू.	शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
०७ देवी.भा.	देवीभागवतम्	२० श्वे.उ.	श्वेताश्वतर उपनिषद्
०८ ईशा.उ.	ईशावास्य उपनिषद्	२१ सा.वे.	सामवेद
०९ कठ.उ.	कठ उपनिषद्	२२ तैत्ति.उ.	तैत्तिरीय उपनिषद्
१० केन.उ.	केन उपनिषद्	२३ तु.रा.	तुलसी रामायण
११ मा.उ.	माण्डूक्य उपनिषद्	२४ वि.पु.	विष्णुपुराण
१२ म.भा.	महाभारत	२५ वा.रा.	वाल्मीकि रामायण
१३ म.स्मृ.	मनुस्मृति	२६ यजु.वे.	यजुर्वेद, वाजसनेयी संहिता

विषय-सूची

शब्दों के संक्षिप्त रूप की सूची	iv
भूमिका	ix
१. अर्जुनविषादयोग.....	१
प्रमुख महारथियों का परिचय	१.०१
सेनाओं के शिखवादन का वर्णन	१.१२
अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण	१.२०
अर्जुन का विषाद.....	१.२८
युद्ध के दोष	१.३२
२. सांख्ययोग.....	६
श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद	२.०१
सांख्ययोग का वर्णन	२.११
योद्धा का धर्म	२.३१
कर्मयोग का महत्त्व	२.३८
वेदों का ज्ञान	२.४१
कर्मयोग की परिभाषा	२.४७
स्थितप्रज्ञ के लक्षण	२.५२
इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता	२.६०
इन्द्रिय-नियंत्रण द्वारा शान्ति की प्राप्ति	२.६४
३. कर्मयोग	२२
कर्मयोग का महत्त्व	३.०१
सेवा की आवश्यकता.....	३.०९
महापुरुष मार्ग-दर्शन कराते हैं	३.२०
सभी कार्य प्रकृति द्वारा किए जाते हैं.....	३.२७
साधना-पथ पर राग और द्वेष दो लुटेरे रहते हैं.....	३.३४
काम एक महाशत्रु है.....	३.३६
इन्द्रिय-निग्रह के उपाय	३.४१
४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	३१
कर्मयोग आदियुगीन सिद्धान्त है.....	४.०१
ईश्वर के अवतरित होने के कारण	४.०५
कर्मबन्धन से छूटने का उपाय	४.१४
कर्म, अकर्म, और विकर्म की परिभाषा.....	४.१६
कर्मयोग की प्रक्रिया, निष्कामकर्म	४.१९
भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ	४.२४
तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता	४.३३
ज्ञान-सहित कार्य करने की आवश्यकता	४.४१
५. कर्मसंन्यासयोग	४०
कर्मयोग और कर्मसंन्यास	५.०१

कर्मसंन्यासी अपने-आप को कर्ता नहीं मानता	५.०७
कर्मयोगी प्रभु के लिए कार्य सम्पादित करता है	५.१०
ज्ञानमार्ग	५.१३
भक्तियुक्त ध्यानमार्ग	५.२७
६. ध्यानयोग	४५
योगी कौन है?	६.०१
योग की परिभाषा	६.०५
ध्यान की तकनीक	६.१०
योगी सभी को अपने-जैसा मानता है	६.२७
ध्यान और वैराग्य द्वारा मन को जीतो	६.३३
योगभ्रष्ट पुरुषों की गति	६.३७
श्रद्धालु योगी-भक्त सर्वश्रेष्ठ है	६.४६
७. ज्ञानविज्ञानयोग	५७
प्रकृति, पुरुष, और ब्रह्म	७.०१
ब्रह्म विश्व का आधार है	७.०८
माया को पार करना कठिन है	७.१३
चार प्रकार के भक्त	७.१६
देवी-देवताओं का पूजन भी भगवान् की ही पूजा है	७.२०
माया की भ्रान्ति	७.२५
८. अक्षरब्रह्मयोग	६४
ब्रह्म, जीव, और कर्म की परिभाषा	८.०१
पुनर्जन्म का सिद्धान्त	८.०५
भगवत्प्राप्ति का एक सरल उपाय	८.०७
ध्यान की एक सहज और सरल विधि	८.१३
सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है	८.१७
ब्रह्म अविनाशी है	८.२०
ज्ञान और अज्ञान के मार्ग	८.२२
९. राजविद्याराजगुह्ययोग	७०
ईश्वरीय रहस्य	९.०१
सृष्टि और प्रलय का वर्णन	९.०७
ज्ञान और अज्ञान के मार्ग	९.११
ब्रह्म का प्रकटीकरण	९.१६
भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति	९.२०
भगवान् भक्त के प्रेमोपहार का भोजन करता है	९.२६
सभी पाप क्षम्य हैं	९.३०
भक्तिमार्ग सभी के लिए सरल है	९.३२
१०. विभूतियोग	७८
ब्रह्म जीवों के विचार और भावना का स्रोत है	१०.०१
ईश्वर भक्तों को तत्त्वज्ञान प्रदान करता है	१०.०७

अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति.....	१०.१२
भगवान् द्वारा अपनी प्रमुख विभूतियों का वर्णन	१०.१९
११. विराटरूपदर्शनयोग	८५
विराटरूपदर्शन के लिए अर्जुन की प्रार्थना	११.०१
अर्जुन द्वारा विराटरूप का दर्शन	११.०५
विराटरूपदर्शन से अर्जुन का भयभीत होना	११.२३
भगवान् द्वारा अपनी शक्तियों का वर्णन	११.३२
हम केवल निमित्त हैं.....	११.३३
अर्जुन द्वारा विराटरूप की स्तुति	११.३५
अर्जुन भगवान् के चतुर्भुजरूप का दर्शन चाहता है	११.४५
अनन्यभक्ति से ही भगवान् का दर्शन प्राप्त होता है.....	११.५२
१२. भक्तियोग	९५
ब्रह्म के साकार और निराकार रूपों की उपासना	१२.०१
साकार ब्रह्म की उपासना आसानी से होती है.....	१२.०५
ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग	१२.०८
सच्चे भक्त के लक्षण	१२.१३
सद्गुण से भक्ति की प्राप्ति	१२.२०
१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	१००
सृष्टि-रचना का सांख्य-सिद्धान्त	१३.०१
चार आर्ष सत्य द्वारा मोक्ष की प्राप्ति	१३.०७
नीति कथा द्वारा ब्रह्म का वर्णन	१३.१२
परमात्मा, पुरुष, प्रकृति, और जीव का निरूपण	१३.१९
श्रद्धा से मोक्ष की प्राप्ति	१३.२४
ब्रह्म के लक्षण	१३.३१
१४. गुणत्रयविभागयोग.....	१०७
पुरुष और प्रकृति के संयोग से प्राणियों की उत्पत्ति... ..	१४.०१
प्रकृति के तीनों गुण जीव को शरीर से बांधते हैं.....	१४.०५
प्रकृति के तीनों गुणों का विवेचन	१४.१०
तीनों गुण ही पुनर्जन्म के वाहक हैं	१४.१४
गुणों से ऊपर उठने पर भगवत्प्राप्ति	१४.१९
गुणातीत पुरुष के लक्षण	१४.२१
भक्ति द्वारा गुणों से ऊपर उठो	१४.२६
१५. पुरुषोत्तमयोग	११२
माया का संसार-वृक्ष	१५.०१
संसार-वृक्ष को कैसे काटकर मोक्ष प्राप्त करें	१५.०३
जीव का स्वरूप	१५.०७
ब्रह्म ही जीवन, ज्योति, अग्नि, और ज्ञान का स्रोत है ..	१५.१२
क्षर, अक्षर (ब्रह्म), और अक्षरातीत का वर्णन	१५.१६
परमपिता परमात्मा का अवरोहन.....	१५.१८

परब्रह्म पुरुषोत्तम का ज्ञान	१५.२०
१६. दैवासुरसंपद्विभागयोग	१६.१९
दैवी सम्पदा या अध्यात्मवाद का वर्णन	१६.०१
आसुरी सम्पदा या भौतिकवाद का वर्णन	१६.०४
मनुष्य की दो ही जातियाँ हैं	१६.०६
भौतिकवादियों की दुर्गति	१६.१९
नरक के तीन द्वार	१६.२१
शास्त्रानुसार कर्म करने की आज्ञा	१६.२३
१७. श्रद्धात्रयविभागयोग.....	१७.०७
तीन प्रकार की श्रद्धा.....	१७.०१
जहाँ चाह, वहाँ राह	१७.०३
तीन प्रकार का आहार	१७.०७
तीन प्रकार का यज्ञ	१७.११
सच बोलना वचन का तप है	१७.१५
तीन प्रकार का तप.....	१७.१७
तीन प्रकार का दान.....	१७.२०
ब्रह्म के तीन नाम	१७.२३
१८. मोक्षसंन्यासयोग.....	१८.३३
संन्यास और त्याग का निरूपण	१८.०१
तीन प्रकार का त्याग	१८.०७
कर्म के पांच कारण	१८.१३
तीन प्रकार का ज्ञान	१८.१९
तीन प्रकार के कर्म.....	१८.२३
तीन प्रकार के कर्ता	१८.२६
तीन प्रकार की बुद्धि	१८.२९
तीन प्रकार का संकल्प	१८.३३
तीन प्रकार का सुख	१८.३६
तीन गुणों के आधार पर कार्य का विभाजन	१८.४१
कर्तव्य, साधना और भक्ति से मोक्ष	१८.४५
कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा शक्ति	१८.६१
समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग	१८.६६
परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान	१८.६८
गीता की महिमा.....	१८.७०
आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता.....	१८.७८
भगवान् श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश	१५१
श्री गीताचालीसा	१५२

भूमिका

गीता सार्वभौमिक सत्य का सिद्धान्त है। इसका संदेश मानव को दिव्यता की ओर ले जाने वाला तथा सम्प्रदाय-निरपेक्ष है; यद्यपि इसे सनातन धर्म, जो सामान्यतः हिन्दूधर्म के नाम से जाना जाता है, की आध्यात्मिक परम्परा के धर्मशास्त्र-त्रयी का अंग माना जाता है। परिपक्व मस्तिष्क वाले व्यक्ति के लिए किसी भी भाषा में गीता को समझना बहुत ही सुगम है। निष्ठा के साथ गीता का बार-बार किया पाठ इसमें निहित सभी उदात्त विचारों को उद्घाटित करेगा। यत्र-तत्र कुछ ऐसे भी श्लोक हैं, जो बहुत कठिन हैं, पर गीता की मुख्य चिन्तन-धारा पर तथा उसकी व्यावहारिक शिक्षा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीता अध्यात्म-शास्त्र के पवित्रतम सिद्धान्तों को उजागर करती है। वह आत्मा का ज्ञान देती है और दो सार्वभौमिक प्रश्नों का उत्तर देती है कि मैं कौन हूँ और कैसे इस संघर्षमय जीवन में सुखी और शान्त होकर रह सकता हूँ। यह योग का ग्रन्थ है, जो मानव जाति को हिन्दूधर्म के मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित नैतिक और आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखलाता है।

गीता के सन्देश का जन्म अर्जुन द्वारा धर्मयुद्ध करने की अनिच्छा के कारण हुआ, क्योंकि युद्ध विनाश और हिंसा का जनक है। हिन्दू विचारधारा में अहिंसा परम धर्म है। सभी प्राणी, चाहे मनुष्य हों या पशु, पवित्र हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और उनके भक्तसखा अर्जुन के बीच का यह संवाद किसी मंदिर में, किसी जंगल में या पर्वत की चोटी पर नहीं हुआ, बल्कि ठीक युद्ध के मैदान में सम्पन्न हुआ। उस युद्ध का वर्णन महाभारत-ग्रन्थ में दिया गया है, जो एक महाकाव्य है।

गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन को खड़े होकर लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं। इस महाभारत-युद्ध की पृष्ठभूमि को यदि ध्यान में न रखा जाए तो अहिंसा के विषय में बड़ी भ्रान्ति हो सकती है, क्योंकि धर्मयुद्ध में हिंसा नहीं है। सत्य की विजय के लिए यदि युद्ध भी करना पड़े तो उस युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ना ही अहिंसा है। इसलिए महाभारत-युद्ध का इतिहास हमें समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल में एक राजा के दो पुत्र थे— धृतराष्ट्र और पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे, इस कारण पाण्डु को राज्य का भार मिला। पाण्डु के पांच पुत्र थे। वे पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे। वे सब कौरव कहलाते थे। कौरव-पुत्रों में दुर्योधन सब से बड़ा था। महाराज पाण्डु के मरने के बाद पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर राजा बने। दुर्योधन बड़ा ही ईर्ष्यालु था। वह भी राज्य करना चाहता था। अतः यह निश्चय हुआ कि पाण्डवों और कौरवों के बीच राज्य के दो भाग कर दिए जाएं। राजा दुर्योधन फिर भी सन्तुष्ट नहीं था। वह सम्पूर्ण राज्य लेना चाहता था। उसने पाण्डवों को मारकर उनका राज्य लेने के लिए अनेक षड्यंत्र रचे, परन्तु असफल रहा। फिर उसने पाण्डवों के राज्य पर गलत ढंग से अधिकार कर लिया और कहने लगा कि बिना युद्ध के एक पग भूमि भी नहीं दी जायगी। श्रीकृष्ण और अन्य लोगों के द्वारा की गयी मध्यस्थता भी असफल हुई। महाभारत के विशाल युद्ध का सूत्रपात हुआ।

पाण्डव युद्ध में अनिच्छा से भाग ले रहे थे। उनके सामने दो रास्ते थे— अपने अधिकार के लिए युद्ध करें या शान्ति और अहिंसा के नाम पर हार मानकर युद्ध से पीछे हट जाएं। पांचों पाण्डव-भाइयों में अर्जुन बुद्धिमान था। वह युद्ध क्षेत्र में इस असमंजस की परिस्थिति का सामना करते हुए सोचने लगा कि वह युद्ध करे या शान्ति के लिए पीछे हट जाए।

अर्जुन का असमंजस सही पूछा जाए तो हम सभी का असमंजस है. अपने दैनिक जीवन में कर्तव्य-कर्म करते हुए हर एक के सामने असमंजस की छोटी-बड़ी ऐसी घड़ियां सदैव आती रहती हैं. अर्जुन की समस्या तो सबसे बड़ी है. उसके सामने उसके पूज्य गुरु, प्रिय मित्र, सगे-संबन्धी और निर्दोष जनों का समूह खड़ा है और उसे इस बात का निर्णय लेना है कि वह युद्ध करे अथवा शान्ति और अहिंसा के हेतु युद्ध से पलायन करे.

पांच हजार वर्ष पहले भारत के दिल्ली-क्षेत्र के निकट कुरुक्षेत्र में युद्ध होने वाला है. उस युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण और घबराये हुए अर्जुन के साथ जो बातचीत हुई, वही गीता के सात सौ श्लोक हैं. यह संवाद अन्धे धृतराष्ट्र को उसके सारथी संजय द्वारा दिव्यदृष्टि से देखकर बतलाया गया है. उसे यह दिव्यदृष्टि महर्षि व्यास जी द्वारा दी गयी थी.

गीता की मुख्य शिक्षा है कि कैसे हम अपने सभी काम-काज करते हुए जीवन के सुख और अंत में मुक्ति को प्राप्त करें. हम अपने कर्तव्य-कर्मों को लगन से करते चलें, चाहे वह कर्म युद्ध ही क्यों न हो और साथ ही प्रभु को याद रखें कि वही हमारे भीतर सही प्रेरणा दे रहा है.

संसार में दो तरह के लोग हैं — एक जो धार्मिक जीवन के लिए अपने जीविका उपार्जन और परिवार पोषण आदि कर्मों को छोड़ देते हैं तथा दूसरों पर आश्रित हो जाते हैं; और दूसरे वे जो धार्मिक जीवन की बिल्कुल ही उपेक्षा कर देते हैं; यह कहकर कि उनके पास अभी इन सब के लिए समय ही नहीं है. श्रीकृष्ण का संदेश है कि पूरा जीवन ही धर्ममय होना चाहिए. जो कुछ भी मनुष्य करे वह ईश्वर को ध्यान में रखकर करे. फिर धर्म के लिए कुछ विशेष परिश्रम अलग से नहीं करना पड़ता. केवल इतना भाव अपने मन में रखना पड़ता है कि हमारे सभी कर्म प्रभु देख रहे हैं और हम अपने कर्म उनके बतलाए मार्ग के अनुसार ही कर रहे हैं.

ऐसा हमें सदा ध्यान रहे; इसके लिए लोग तरह-तरह के पूजा-पाठ, व्रत-तप, यज्ञ-अनुष्ठान, ध्यान, जप, सत्संग, तीर्थ-भ्रमण, शास्त्र-अध्ययन आदि करते हैं. उन सबका उद्देश्य यही होता है कि किसी तरह हमारे भीतर से काम, क्रोध, लोभ आदि विकार कम हों और हम अपने मन के स्वामी बनें. इस बात का सदा ध्यान रहे कि कर्म तो हमारे भीतर प्रकृति करवाती है और हम तो निमित्त मात्र हैं. सभी कार्यों में हमें कुशलता चाहिए और अपने भीतर कोई उत्तेजना नहीं आनी देनी चाहिए; चाहे लाभ हो या हानि, दुःख हो या सुख, सफलता हो या विफलता.

आत्मा का अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा अभिशाप है. आत्मा का ज्ञान शब्दों से या ग्रन्थों से करा देना संभव नहीं है. भाषा असमर्थ है और शास्त्रों का अनुवाद परमसत्य का ज्ञान पूर्णतः करवाने में असमर्थ है. प्रस्तुत अनुवाद में यह प्रयास किया गया है कि शैली मूल संस्कृत काव्य के यथासम्भव समीप हो, किन्तु साथ ही पढ़ने और समझने में सरल हो. शब्दों या वाक्यांशों को कोष्ठों में जोड़कर श्लोकों के अनुवाद को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है.

वराहपुराण के अनुसार कोई भी पाप, चाहे वह कितना ही जघन्य हो, उस व्यक्ति को नहीं लग सकता जो गीता पढ़ता है, मनन करता है तथा उसकी शिक्षाओं पर आचरण करता है, वैसे ही जैसे जल का प्रभाव कमल पर नहीं पड़ता है. जहां गीता रखी, पढ़ी, गाई या पढ़ाई जाती है, वहां स्वयं भगवान् कृष्ण निवास करते हैं. गीता परमज्ञान है और परमतत्त्व तथा अनादि-अनन्त और शाश्वत सत्ता का नादरूप है, स्वर-

प्रतीक है। जो इसे पढ़ता है, मनन करता है और निष्ठाभक्ति से गीता की शिक्षाओं का अनुसरण करता है, वह प्रभुकृपा से मोक्ष की प्राप्ति करता है।

गीता के गंभीर विषयों के मूल भावों का सरल भाषावद्ध नहीं होने के कारण जन-साधारण इसका अधिक लाभ नहीं उठा पाते। गीता जैसे गूढ़ ग्रंथ के लिए भाषा को यथासम्भव सरल बनाने का प्रयास किया गया है। इस ग्रंथ में गीता के श्लोकों की व्याख्याओं का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद तथा सम्पादन मेरे मित्र डाक्टर वेद प्रकाश 'वटुक' जी ने की है। इस सहायता के लिए मैं उनका अभारी हूँ। यह ग्रंथ उन गुरुओं को समर्पित किया गया है, जिनके आशीर्वाद, कृपा और शिक्षाएं अमूल्य रही हैं। और यह महानतम गुरु भगवान् कृष्ण को भक्ति और प्रेम के साथ समर्पित है। प्रभु को यह अर्घ्य स्वीकार हो; और वे उन्हें, जो बारबार इस ग्रंथ को पढ़ें, शान्ति, सुख और सच्चा आत्मज्ञान प्रदान करने की कृपा करें।

ॐ तत्सत्

रामानन्द प्रसाद, पी.एच.डी.
 फ्रीमॉन्ट, कैलिफोर्निया, USA
 August 25, 2012

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ
वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
मूकं करोति वाचालं, पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥२॥

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

१. अर्जुनविषादयोगः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले— हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया? (१.०१)

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस् तदा ।

आचार्यम् उपसङ्गम्य राजा वचनम् अब्रवीत् ॥२॥

संजय बोले— पाण्डवों की सेना की ब्यूह-रचना देखकर राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा— (१.०२)

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य, अपने बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा ब्यूहाकार खड़ी की गई पाण्डुपुत्रों की इस महान् सेना को देखिए. (१.०३)

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश् चैकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेना में महान् धनुर्धारी योद्धा हैं, जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं; जैसे युयुधान, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चैकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्र, ये सब महारथी हैं. (१.०४-०६)

कौरव सेनानायकों का परिचय

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजोत्तम, हमारे पक्ष में भी जो विशिष्ट योद्धागण हैं, उनको भी आप जान लीजिये. आपकी जानकारी के लिए मैं अपनी सेना के नायकों के नाम बताता हूँ. (१.०७)

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिसू तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

एक तो स्वयं आप, भीष्म, कर्ण और विजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र हैं। मेरे लिए प्राणत्याग करने के लिए तैयार, अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित तथा युद्ध में कुशल और भी अनेक शूरवीर हैं। (१.०८-०९)

अपर्याप्तं तद् अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदम् एतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागम् अवस्थिताः ।

भीष्मम् एवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी सेना अजेय है और भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना जीतने में सुगम है। अतः विभिन्न मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप सब लोग भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। (१.१०-११)

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

उस समय कौरवों में वृद्ध, प्रतापी भीष्मपितामह ने दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से गरज कर शंखध्वनि की। (१.१२)

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहस्रैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस् तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, शृंगी आदि वाद्य एक साथ ही बज उठे, जिनका बड़ा भयंकर नाद हुआ। (१.१३)

ततः श्वेतैर् हयैर् युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके उपरान्त श्वेत अश्वों से युक्त भव्य रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भी अपने-अपने दिव्य शंख बजाये। (१.१४)

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

भगवान् कृष्ण ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाये। (१.१५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

हे राजन्, कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये। श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ने अलग-अलग शंख बजाये। (१.१६-१८)

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

वह भयंकर घोष आकाश और पृथ्वी पर गूंजने लगा और उसने आपके पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए. (१.१९)

अर्जुन द्वारा युद्धेच्छुक यौद्धाओं को देखने की कामना

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुर् उद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यम् इदम् आह महीपते ।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावद् एतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामान् अवस्थितान् ।

कैर् मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

हे राजन, इस प्रकार जब युद्ध प्रारम्भ होनेवाला ही था तब कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को स्थित देखकर धनुष उठाकर भगवान् कृष्ण से ये शब्द कहे— हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिए, जिससे मैं युद्ध की इच्छा से खड़े उन लोगों का निरीक्षण कर सकूँ, जिनके साथ मुझे युद्ध करना है. (१.२०-२२)

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्वोधन का युद्ध में प्रिय चाहनेवाले जो राजा लोग यहां एकत्र हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखना चाहता हूँ. (१.२३)

संजय उवाच—

एवम् उक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् इति ॥२५॥

संजय बोले— हे भारत, अर्जुन के इस प्रकार कहने पर भगवान् कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच उत्तम रथ को भीष्म, द्रोण तथा पृथ्वी के समस्त शासकों के सामने खड़ा करके कहा— हे पार्थ यहां एकत्र हुए इन कौरवों को देखो. (१.२४-२५)

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृन् अथ पितामहान् ।

आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस् तथा ॥२६॥

वहां अर्जुन ने अपने चाचाओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को खड़े हुए देखा. (१.२६)

अर्जुन का विषाद

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोर् उभयोर् अपि ।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्न इदम् अब्रवीत् ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

श्वशुरों, मित्रों और सब बन्धुओं को भी उन दोनों सेनाओं में स्थित देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का मन करुणा से भर गया और विषाद युक्त होकर उसने यह कहा— हे कृष्ण,

युद्ध की इच्छा से उपस्थित इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख भी सूख रहा है और मेरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो रहा है. (१.२७-२९)

गाण्डीवं संसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्य् अवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनम् आहवे ॥३१॥

मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा जल रही है. मेरा मन भ्रमितसा हो रहा है तथा मैं खड़ा रहने में भी असमर्थ हूँ और हे केशव, मैं शकुनों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ. युद्ध में अपने स्वजनों को मारकर कोई कल्याण भी नहीं देखता हूँ. (१.३०-३१)

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर् जीवितेन वा ॥३२॥

येषाम् अर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस् त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हे कृष्ण, मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा न सुखों को ही. हे गोविन्द, हमें ऐसे राज्य से अथवा भोगों से और जीने से भी क्या लाभ है? क्योंकि वे सब लोग, जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, धन और जीवन की आशा त्यागकर युद्ध के लिए खड़े हैं. (१.३२-३३)

आचार्याः पितरः पुत्रास् तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस् तथा ॥३४॥

एतान् न हन्तुम् इच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन कृष्ण, गुरुजन, ताऊओं, चाचाओं, पुत्रों, पितामहों, मामाओं, श्वसुरों, पोतों, सालों तथा अन्य सम्बन्धियों को, मुझपर प्रहार करने पर भी, मैं मारना नहीं चाहता. तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है? (१.३४-३५)

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज् जनार्दन ।

पापम् एवाश्रयेद् अस्मान् हत्वैतान् आततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन कृष्ण, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों को मारने से तो हमें केवल पाप ही लगेगा. (१.३६)

तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए अपने बान्धवों, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारना हमारे लिए उचित नहीं है; क्योंकि, हे माधव, स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? (१.३७)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर् जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग अपने कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में हुए पाप को नहीं देख रहे हैं; तथापि, हे जनार्दन, कुल के नाश से

उत्पन्न दोष को जाननेवाले हम लोगों को इस पाप से निवृत्त होने के लिए क्यों नहीं सोचना चाहिए? (१.३८-३९)

अर्जुन द्वारा युद्ध के दोषों का वर्णन

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मं नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म नष्ट होने पर सारे कुल को पाप दबा लेता है. (१.४०)

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण, पाप के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं; और, हे वार्ष्णेय, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर पैदा होते हैं. (१.४१)

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वर्णसंकर कुलघातियों को और सारे कुल को नरक में ले जाता है, क्योंकि (वर्णसंकर द्वारा) श्राद्ध और तर्पण न मिलने से पितर भी अपने स्थान से नीचे गिर जाते हैं.

दोषैर् एतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं. (१.४३)

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम् ॥४४॥

हे जनार्दन, हमने सुना है कि जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें बहुत समय तक नरक में वास करना होता है. (१.४४)

कठिन समय में सशक्त भी भ्रमित हो जाते हैं

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनम् उद्यताः ॥४५॥

यह बड़े शोक की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं तथा राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों का नाश करने को तैयार हैं. (१.४५)

यदि माम् अप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस् तन् मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा यदि शस्त्ररहित और सामना न करनेवाले मुझको ये शस्त्रधारी कौरव रण में मार डालें. (१.४६)

संजय उवाच—

एवम् उक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्णमानसः ॥४७॥

संजय बोले— ऐसा कहकर शोकाकुल मनवाला अर्जुन रणभूमि में बाणसहित धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया. (१.४७)

इस प्रकार अर्जुनविषादयोग नामक प्रथम अध्याय पूर्ण होता है.

अथ द्वितीयोऽध्यायः
सांख्ययोगः
२. सांख्ययोग

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसू भरे, व्याकुल नेत्रोंवाले, शोकाकुल अर्जुन से भगवान् कृष्ण ने कहा— (२.०१)

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— अर्जुन, इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कैसे प्राप्त हुई? यह श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण के विपरीत है तथा यह न तो स्वर्ग-प्राप्ति की साधन है और न कीर्ति देनेवाली ही है. (२.०२)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

इसलिए, हे अर्जुन, तुम कायर मत बनो. यह तुम्हें शोभा नहीं देता. हे शत्रुओं को मारनेवाले अर्जुन, तुम अपने मन की इस दुर्बलता को त्यागकर युद्ध करो. (२.०३)

अर्जुन द्वारा युद्ध विरोधी तर्कों को चालू रखना

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्मम् अहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हाव् अरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, मैं इस रणभूमि में भीष्म और द्रोण के विरुद्ध बाणों से कैसे युद्ध करूँ? हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं. (२.०४)

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम् अपीहलोके ।

हत्वार्थकामांस् तु गुरून् इहैव

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से अच्छा इस लोक में भिक्षा का अन्न खाना है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो इस लोक में उनके रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूपी भोगों को ही तो भोगूंगा. (२.०५)

न चैतद् विद्मः कतरन् नो गरीयो

यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यान् एव हत्वा न जिजीविषामस्

तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

और हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए (युद्ध करना या न करना, इन दोनों में) कौन-सा काम अच्छा है. अथवा यह कि हम जीतेंगे या वे जीतेंगे. जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं. (२.०६)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ब्रूहि तन् मे

शिष्यस् तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

इसलिए करुणापूर्ण और कर्तव्य पथ से भ्रमित, मैं, आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो निश्चय ही कल्याणकारी हो उसे आप कृपया कहिए. मैं आपका शिष्य हूँ, शरण में आये मुझको आप शिक्षा दीजिए. (२.०७)

धर्म की परिभाषा की जा सकती है. धर्म वह शाश्वत नियम है जो सृष्टि और संसार की व्यवस्था को चलाता, बनाये रखता और पोषित करता है. स्रष्टा और सृष्टि के बीच यह शाश्वत सम्बन्ध है. इसके अतिरिक्त धर्म का अर्थ जीवन-पद्धति, कर्तव्य, न्यायसंगत व्यवहार, आदर्श आचरण, गुणश्रेष्ठता, प्रकृति, गुणात्मकता, नैतिक सिद्धान्त और सत्य भी है. अधर्म धर्म का विलोम (शब्द) है. संकटकालीन क्षणों में विज्ञानों का मार्गदर्शन अपेक्षित है.

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमाव् असपत्नम् ऋद्धं

राज्यं सुराणाम् अपि चाधिपत्यम् ॥८॥

पृथ्वी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य तथा देवताओं का स्वामित्व प्राप्तकर भी मैं ऐसा कुछ नहीं देखता हूँ, जिससे हमारी इन्द्रियों को सुखानेवाला शोक दूर हो सके. (२.०८)

संजय उवाच—

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय बोले— हे राजन्, निद्रा को जीतनेवाला, अर्जुन, अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् से “मैं युद्ध नहीं करूंगा” कहकर चुप हो गया. (२.०९)

तम् उवाच हृषीकेशः प्रहसन्न इव भारत ।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये विषीदन्तम् इदं वचः ॥१०॥

हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र), दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकाकुल अर्जुन को अन्तर्यामी श्रीकृष्ण हंसते हुए-से ये वचन बोले. (२.१०)

गीता के उपदेशों का प्रारम्भ

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, तुम ज्ञानियों की तरह बातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११)

जिस प्रकार नदी में बहते हुए दो काठ के टुकड़े कभी-कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोक में प्राणियों का समागम होता है (म.भा. १२.१७४.१५). सुधीजन, जो जानते हैं कि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर, शोक करने का कोई कारण नहीं देखते (कठ.उ. २.२२)

आत्मा सजीवता है, चैतन्य है, शाश्वत अस्तित्व ब्रह्म है, स्व-अस्मिता है, जीवन-स्रोत है, शरीर-मस्तिष्क-समष्टि की सार्वभौमिक-सार्वकालिक शक्ति है, ऊर्जा है। जिस प्रकार देशकाल में हमारे शरीर की सत्ता है, अस्तित्व है, उसी प्रकार आत्मा में हमारे विचार, हमारी प्रज्ञा, हमारे मनोभाव, हमारी चित्तावस्था विद्यमान हैं। शारीरिक इन्द्रियों से आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा इन्द्रियों के परे, अतीन्द्रिय, है।

विभिन्न संदर्भों में गीता में आत्मा शब्द का प्रयोग चित्त, शरीर, मानस, मस्तिष्क, प्रज्ञा, अवचेतन, चैतन्य, सूक्ष्म इन्द्रिय, निम्न इन्द्रिय, अहम्, स्वयं, हृदय, मानव, ब्रह्म, परमसत्य, जीवात्मा, व्यक्तिगत आत्मा आदि अर्थों में भी हुआ है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयम् अतः परम् ॥१२॥

ऐसा नहीं है कि मैं किसी समय नहीं था, अथवा तुम नहीं थे या ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। (२.१२)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर् धीरस् तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है। इसलिए धीर मनुष्य को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए। (१५.०८ भी देखें।) (२.१३)

मात्रास्पर्शास् तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास् तांस् तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे अर्जुन, इन्द्रियों के विषयों से संयोग के कारण होनेवाले सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख क्षणभंगुर और अनित्य हैं; इसलिए, हे अर्जुन, तुम उसको सहन करो। (२.१४)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषरूषभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख और सुख में समान भाव से रहनेवाले जिस धीर मनुष्य को इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर पाते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है। (२.१५)

प्रतिभासित विश्व द्वन्द्वों के अभाव में रह ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा, हर्ष और विषाद आदि सदा रहेंगे। यदि द्वन्द्वों — सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि — के मनोवेगों से अप्रभावित रहने में मन को प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। यह जगत् जीवात्माओं के लिए ईश्वर द्वारा निर्मित क्रीड़ा-स्थल है। खेल में दो का होना अनिवार्य है। द्वन्द्वों का सम्पूर्ण विलोप कर देने से खेल जारी नहीं रह सकता। दुःख का समाप्त हो जाना सुख को जन्म देता है और सुख की समाप्ति का परिणाम होता है दुःख। इस प्रकार दुःख सुख के गर्भ में जन्म लेता है। शान्ति युद्ध के गर्भ से उत्पन्न होती है। विषाद विद्यमान है, क्योंकि हर्ष की कामना विद्यमान है। जब हर्ष की कामना का लोप हो जाता है, तब विषाद भी मिट जाता है। विषाद केवल हर्ष का पूर्वाभास है और हर्ष विषाद का। स्वर्ग-गमन भी पृथ्वी पर प्रत्यागमन के दुःख की पूर्व-प्रक्रिया है। अतः भौतिक पदार्थ मानव-जीवन के उद्देश्य नहीं होने चाहिए। भौतिक आनन्द को चुनना वैसा ही है, जैसा अमृत को त्याग कर विष का चयन करना।

प्रकृति का नियम है — परिवर्तन—ग्रीष्म का शीत में बदलना, वसन्त का पतझड़ में, पूर्णिमा के चांद के प्रकाश का अमावास्या के अंधकार में। न विषाद सदा रहता है न हर्ष। विषाद के बाद हर्ष आता है और हर्ष के बाद फिर विषाद। इस प्रकार चिन्तन करते हुए

मानव को समय के प्रहार को धैर्य के साथ सहना सीखना चाहिए — न केवल सहन करना सीखना, वरन् उसकी अपेक्षा करना, उसका स्वागत करना और समान रूप से जीवन में विषाद और हर्ष दोनों का आनन्द लेना भी उसे आना चाहिए. विषाद की भूमि में आशा के बीज बोइये. दुर्भाग्य की रात्रि के अंधेरे में शास्त्रों की मशाल के साथ प्रभु में आस्था रखते हुए मार्ग ढूढ़ना चाहिए. समस्याओं के बिना अवसर भी नहीं मिलते. आइंस्टाइन ने कहा था— कठिनाइयों के मध्य में ही अवसर निहित हैं.

आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोर् अपि दृष्टोऽन्तस् त्व अनयोस् तत्त्वदर्शिभिः ॥२६॥

असत् वस्तु का भाव नहीं होता है और सत् का अभाव नहीं होता है. तत्त्वदर्शी मनुष्य (असत् और सत्) दोनों को तत्त्व से जानते हैं. (२.१६)

परम सत् सर्वत्र और सब कालों —भूत, वर्तमान और भविष्य — में विद्यमान है. असत् कल्पना है, उसकी जो कहीं है ही नहीं —खरगोश के सींग या मृगमरीचिका के जल की तरह. जिसका आदि है, अन्त है, वह न सत् है न असत्. वह मिथ्या है. मानव-शरीर (तथा जगत्) सत् है न असत् तथा सत् और असत् दोनों हैं, क्योंकि उसका अस्तित्व अस्थायी है. मिथ्या वह है, जो प्रथम दृष्टि में सत् (स्थायित्व) का आभास देती है, पर वास्तव में असत् है. मानव-शरीर और जगत् दोनों ही मिथ्या कहे गए हैं. इस श्लोक में असत् शब्द का प्रयोग मिथ्या के अर्थ में किया गया है.

हमारा भौतिक शरीर जन्म, विकास, प्रौढ़ता, पुनरुत्पत्ति, क्षय और मृत्यु के अधीन है, जबकि आत्मा शाश्वत, अविनाशी, शुद्ध, अप्रतिम, सर्वज्ञ, अपरिवर्तनीय, स्वयं-प्रभासित, सब कारणों का कारण, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, अप्रभावित, अवध्य और अनिर्वचनीय है.

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वम् इदं ततम् ।

विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ॥१७॥

उस अविनाशी तत्त्व को जानो, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है. (२.१७)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥

इस अविनाशी, असीम और नित्य जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं; इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम युद्ध करो. (२.१८)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे दोनों ही नासमझ हैं, क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जा सकता है. (कठ.उ. २.१९ में एक समानान्तर श्लोक है.) (२.१९)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

आत्मा कभी न जन्म लेता है और न मरता ही है. आत्मा का होना फिर न होना नहीं होता है. आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है. शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता. (कठ.उ. २.१८ भी देखें.) (२.२०)

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनम् अजम् अव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ, जो मनुष्य आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा? (२.२१)

मृत्यु, और आत्मा का पुनर्जन्म

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य्

अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव मृत्यु के बाद अपने पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२)

जैसे इल्ली एक वस्तु को छोड़ने से पहले दूसरे पदार्थ का अधिग्रहण कर लेता है, वैसे ही जीव पुराने शरीर को छोड़ने से पहले (या बाद में) नया शरीर प्राप्त कर लेता है (बृह.उ. ४.०४.०३). भौतिक शरीर की तुलना एक पिंजरे, वाहन, आवास तथा सूक्ष्म शरीर के वसन से भी की गई है जिसे बार-बार बदलने की आवश्यकता होती है. मृत्यु भौतिक शरीर से सूक्ष्म शरीर का वियोग है, अलग होना है. जीवात्मा एक यात्री है. मृत्यु जीवात्मा की यात्रा का अन्त नहीं है. मृत्यु उस विश्राम-स्थल की तरह है, जहां जीवात्मा वाहन बदलता है और फिर यात्रा जारी रहती है. जीवन अनवरत और अनन्त है. अवश्यम्भावी मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है. वह केवल विनाशशील भौतिक शरीर का अन्त है.

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुर् अचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

शस्त्र इस आत्मा को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती; क्योंकि आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है. आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन है. (२.२३-२४)

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते ।

तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार कहा जाता है. अतः आत्मा को ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२५)

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुम् अर्हसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्माद् अपरिहार्योऽर्थं न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥२७॥

हे महाबाहो, यदि तुम शरीर में रहनेवाले जीवात्मा को नित्य पैदा होनेवाला तथा मरनेवाला भी मानो, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि जन्म लेनेवाले की

मृत्यु निश्चित है और मरनेवाले का जन्म निश्चित है. अतः जो अटल है, उसके विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.२६-२७)

मृत्यु की निश्चितता से किसी भी जीव की अनावश्यक हत्या, अन्याय-भरे युद्ध, यहां तक कि आत्महत्या का औचित्य भी सिद्ध नहीं होता या किया जा सकता है.

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे अर्जुन, सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मृत्यु के बाद फिर अप्रकट हो जाएंगे, केवल (जन्म और मृत्यु के) बीच में प्रकट दीखते हैं; फिर इसमें शोक करने की क्या बात है? (२.२८)

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्

आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है, कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई इसके बारे में सुनकर भी नहीं समझ पाता है. (कठ.उ. २.०७ भी देखें.) (२.२९)

देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन, सबके शरीर में रहनेवाला यह आत्मा सदा अवध्य है, इसलिए किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए. (२.३०)

अर्जुन को उसके कर्तव्यों का स्मरण कराना

स्वधर्मम् अपि चावेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि ।

धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपने स्वधर्म की दृष्टि से भी तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्म नहीं है. (२.३१)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ॥३२॥

हे पृथानन्दन, अपनेआप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्ग के खुले हुए द्वार जैसा है, जो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है. (२.३२)

धर्मयुद्ध अन्य धर्मों के अनुयायियों के विरुद्ध किया गया युद्ध नहीं है. न्यायसंगत धर्मयुद्ध अपने दुष्कर्म करनेवाले स्वजनों के विरुद्ध भी लड़ा जा सकता है (ऋ.वे. ६.७५.१६). जीवन अच्छाई और बुराई की शक्तियों के मध्य एक निरंतर संग्राम है. एक शूरवीर व्यक्ति को—योद्धा की वीर-भावना से— विजय की इच्छाशक्ति और दृढ़निश्चय के साथ बुराइयों की शक्तियों और कठिनाइयों से बिना समझौता किए, युद्ध करना चाहिए. नैतिकता के प्रति निष्ठा रखनेवाले साहसी शूरवीरों की प्रभु सहायता करते हैं. धर्म उनकी रक्षा करता है, जो धर्म की रक्षा करते हैं.

साधारण, पर अनिवार्य, मृत्यु की अपेक्षा किसी न्यायसंगत ध्येय के लिए बलिदान का गौरव प्राप्त करते हुए मरना श्रेयस्कर है. स्वर्ग के द्वार उनके लिए पूर्णतः खुले हैं, जो न्याय और धर्म की रक्षा में तत्पर रहते हैं. अन्याय अथवा दुष्कर्म का विरोध न करना

परोक्षतः उसे समर्थन देना ही है। अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। कुरआन में भी कहा गया है— सेना में अल्लाह के उद्देश्य की रक्षा के लिए युद्ध करनेवालों से अल्लाह प्रेम करता है (सूरा ६१.०४)। बाइबिल कहती है— धन्य हैं वे, जिन्होंने धर्म के लिए यातना सही है, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है (मैथ्यू ५.१०)।

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे, तब अपने स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे। (२.३३)

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर् मरणाद् अतिरिच्यते ॥३४॥

तथा सब लोग बहुत दिनों तक तुम्हारी अपकीर्ति की चर्चा करेंगे। सम्मानित व्यक्ति के लिए अपमान मृत्यु से भी बढ़कर है। (२.३४)

भयाद् रणाद् उपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

महारथी लोग तुम्हें डरकर युद्ध से भागा हुआ मानेंगे और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो, उनकी दृष्टि से तुम नीचे गिर जाओगे। (२.३५)

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तुम्हारे वैरी लोग तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुम्हारी बहुत बुराई करेंगे। तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा? (२.३६)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

युद्ध में मरकर तुम स्वर्ग जाओगे या विजयी होकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे; इसलिए, हे कौन्तेय, तुम युद्ध के लिए निश्चय करके खड़े हो जाओ। (२.३७)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिए। ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (अर्थात् कर्म का बन्धन) नहीं लगता। (२.३८)

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो भी प्राप्त हो जाय, उसका हृदय से स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे (म.भा. १२.१७४.३६)। दो ही प्रकार के व्यक्ति संसार में सुखी रहते हैं— एक वे जो पूर्णतः अनभिज्ञ हैं, दूसरे वे जो पूर्ण ज्ञानी हैं। शेष सब दुःखी हैं (म.भा. १२.१७४.३३)।

कर्मयोग, अर्थात् निष्काम कर्म का महत्त्व

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर् योगे त्व् इमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, मैंने सांख्यमत का यह ज्ञान तुम से कहा, अब कर्मयोग का विषय सुनो, जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। (२.३९)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पम् अप्य् अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश ही नहीं होता तथा उल्टा फल भी नहीं मिलता है। इस निष्काम कर्मयोगरूपी धर्म का थोड़ा-सा अभ्यास भी (जन्म-मरणरूपी) महान् भय से रक्षा करता है। (२.४०)

कर्मयोग को निष्काम कर्मयोग, सेवा, निःस्वार्थ सेवा, त्याग, यज्ञ, धृतियोग और कर्मविज्ञान भी कहा गया है। कर्मयोगी किसी निजी कर्मफल की इच्छा या आसक्ति के बिना कर्तव्य-भाव से प्रभुप्रेम के लिए कर्म करता है और सब भयों से मुक्त हो जाता है। कर्म शब्द का अर्थ कर्तव्य, क्रिया, उद्यम और अतीत के कर्मों के परिणाम भी है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर् एकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्य् अनन्ताश्च बुद्ध्योऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे अर्जुन, कर्मयोगी केवल ईश्वरप्राप्ति का ही दृढ़ निश्चय करता है; परन्तु सकाम मनुष्यों की इच्छाएं अनेक और अनन्त होती हैं। (२.४१)

वेदों का विषय भौतिक और आध्यात्मिक
जीवन के दोनों पहलू है

याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य् अविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यद् अस्तीति वादिनः ॥४२॥

हे पार्थ, सकाम अविवेकीजन, जिन्हें वेद की मधुर संगीतमयी वाणी से प्रेम है, (वेद को यथार्थ रूप से नहीं समझने के कारण) ऐसा समझते हैं कि वेद में भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं। (२.४२)

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

वे कामनाओं से युक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले, भोग और धन को प्राप्त करानेवाले अनेक धार्मिक संस्कारों को बताते हैं, जो पुनर्जन्मरूपी कर्मफल को देनेवाले होते हैं। (कठ.उ. २. ०५, ईशा.उ. ०९ भी देखें।) (२.४३)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोग और ऐश्वर्य ने जिनका चित्त हर लिया है, ऐसे व्यक्ति के अन्तःकरण में भगवत्प्राप्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता है और वे परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकते हैं। (२.४४)

आत्मबोध का अर्थ है परमप्रभु श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति अपने सम्बन्धों का ज्ञान तथा प्रभु की अतीन्द्रिय प्रकृति का बोध। वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा दिलाई गई भौतिक लाभों की प्रत्याशा वैसी ही है जैसी किसी मां के द्वारा बच्चे को भौतिक जीवन से अनासक्ति के लिए दी गई औषधि को लेने के लिए प्रेरित करने को मिष्ठान्न का वायदा करना। अनेक संदर्भों में यह आवश्यक है। समय के अनुसार कर्मकाण्डों में परिवर्तन अनिवार्य है, साथ ही उनका भक्ति और सत्कर्मों द्वारा समर्थित होना भी। लोग किसी भी समय प्रार्थना कर सकते हैं और ध्यानावस्थित हो सकते हैं — बिना किसी कर्मकाण्ड के। आध्यात्मिक जीवन में कर्मकाण्डों का बड़ा योगदान रहा है, किन्तु उनका दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। परमप्रभु श्रीकृष्ण और भगवान् बुद्ध दोनों ने ही वैदिक कर्मकाण्डों के दुरुपयोग की भर्त्सना की है, कर्मकाण्डों की नहीं। कर्मकाण्डों से पवित्र और सुखद वातावरण पैदा होता है। कर्मकाण्ड

देवयान माने जाते हैं (ऋ.वे. १०.६३.१०) और उनकी आलोचना शक्तिहीन जलयान कहकर भी की गई है (मु.उ. १.२.०७)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन, वेदों (के कर्मकाण्ड) का विषय प्रकृति के तीन गुणों से सम्बन्धित है; तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, परमात्मा में स्थित, योगक्षेम न चाहनेवाले और आत्मपरायण बनो। (२.४५)

गुण का अर्थ है— शुचिता, विशेषता, स्वधर्म, स्थिति, भौतिक लक्षण; तथा मन, पदार्थ और प्रकृति की शक्ति। भौतिक प्रकृति के त्रिगुणों (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण) के विस्तार-व्याख्या के लिए चौदहवें अध्याय को देखें।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

ब्रह्म को तत्त्वतः जाननेवालों के लिए वेदों की उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी महान् सरोवर के प्राप्त होनेपर एक छोटे जलाशय की। (२.४६)

धर्मग्रन्थ एक सीमित सरोवर की तरह है, जो अपना जल सत्य के अनन्त महासागर से ग्रहण करते हैं। अतः धर्मग्रन्थ बोधि प्राप्ति के बाद ही अनावश्यक हो जाते हैं, क्योंकि अनन्त जलप्रवाह से घिरे होने पर जलाशय की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। जिसने परम प्रभु को जान लिया है, वह वैदिक कर्मकाण्डों के फलस्वरूप मिलनेवाले स्वर्ग आदि की इच्छा नहीं करेगा। वेदादि धर्मग्रन्थ आवश्यक माध्यम हैं, ध्येय नहीं। धर्मग्रन्थ आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए हमारे पथदर्शक हैं और लक्ष्य की प्राप्ति पर उनकी उपयोगिता पूरी हो जाती है।

कर्मयोग का सिद्धान्त और व्यवहार

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर् भूर् मा ते सङ्गोऽस्त्व अकर्मणि ॥४७॥

केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं। इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फंसो तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो। (२.४७)

अधिकार शब्द का अर्थ है— योग्यता, सामर्थ्य, अर्हता, शक्ति, सौभाग्य, सुविधा, अधिकृत क्षेत्र, प्राथमिकता, विकल्प, न्यायसंगत दावा, सत्ता, नियंत्रण आदि। जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का विकास तभी होता है, जब हम यह समझ लेते हैं कि समस्त क्रिया-कलाप में अपने श्रेष्ठतम प्रयास को लगाने की क्षमता तो हम रखते हैं, किन्तु अपने कामों के परिणाम हम नहीं चुन सकते। परिणामों के निर्णय करनेवाले तत्त्वों पर हमारा कोई भी नियंत्रण नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कामों के परिणामों के चयन की शक्ति दी जाती, या उनकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति की क्षमता उन्हें मिल जाती, तो संसार का कारोबार न चलता। हर व्यक्ति को जीवन में अपना कर्तव्य-विशेष करने की शक्ति और क्षमता दी गई है, पर अपेक्षित परिणामों को चुनने के लिए कोई स्वतंत्र नहीं है। सफलता या अच्छे परिणाम की अपेक्षा किए बिना कर्म करने का कोई अर्थ ही नहीं है, किन्तु किसी भी योजना में अनपेक्षित के लिए पूर्णतः तैयार रहना भी उस योजना का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिए। स्वामी कर्मानन्द का कथन है— कर्मयोग का सार है केवल स्रष्टा की खुशी के लिए काम करना, सब कर्मों के फल की इच्छा को मन से हटा देना और परिणामों को प्रभु पर छोड़ देना। अपने कर्म के फलों का व्यक्तिगत भोग करने का चिन्तन किए बिना

प्रभु के निजी सेवक के रूप में अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार अपना कर्तव्य करते रहे।

सफलता में सबसे बड़ी बाधा है कर्मफल के प्रति भावनात्मक रूप से लिप्त होने के कारण असफलता का भय; क्योंकि, इस भय के कारण मन की स्थिरता के सतत भंग होने से कार्यक्षमता का क्षय होता है। अतः कर्तव्य को निर्लिप्त लिप्तता के साथ पूरा करना चाहिए। परिणाम की चिन्ता किए बिना कठिन परिश्रम करने से किसी भी काम में सफलता मिलना सुगम हो जाता है। काम तभी अधिक क्षमता से किया जाता है, जब मन — चेतन या अवचेतन अवस्था में — कर्म के अच्छे या बुरे परिणाम की चिन्ता में सतत रत नहीं होता। इस तथ्य की खोज जीवन में व्यक्ति को स्वयं करनी पड़ती है। व्यक्ति को केवल अपने या कुछ लोगों के लिए ही काम न कर मानवता की सहायता के महान् ध्येय को ध्यान में रखकर, बिना स्वयं के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के, कर्तव्यभाव से कार्यरत होना चाहिए। स्थितप्रज्ञता और आध्यात्मिक प्रगति निःस्वार्थ सेवा में निहित है, जबकि स्वार्थभावना से किया गया काम कर्म के बन्धन और निराशा को जन्म देता है। महत्तर उद्देश्य के लिए निष्ठापूर्वक की गई निःस्वार्थ सेवा इहलोक तथा परलोक में शाश्वत शान्ति और सुख की ओर ले जाती है।

व्यक्ति के अधिकार की सीमा कर्तव्य करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, वह कभी भी फल के उपवन में प्रवेश नहीं करती। शिकारी का नियंत्रण मात्र बाण पर है, शिकार पर कभी भी नहीं। जब व्यक्ति के मन में विजय के सुख की कामना नहीं होती, तब वह पराजय के दुःख से भी प्रभावित नहीं होता। कर्मयोगी के लिए सफलता के हर्ष या असफलता के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह कर्मफल के सुख भोगने की प्रतीक्षा किए बिना सेवापथ पर अग्रसर रहता है। उसे सेवा-सुख का आनन्द उठाना आ गया होता है। अज्ञान-जनित, अत्यन्त सीमित, व्यक्तिगत लाभ की अदूरदर्शिता समाज और विश्व में सब बुराइयों का मूल है। धर्मरूपी पक्षी व्यक्तिगत लाभ के पिंजड़े में बन्द नहीं रखा जा सकता। धर्म और स्वार्थ का एकसाथ रहना संभव नहीं है। जहां स्वार्थ है, वहां धर्म नहीं और जहां धर्म है, वहां स्वार्थ नहीं रह सकता।

फल की कामना व्यक्ति को पाप की अंधेरी गली में ले जाती है और उसके सही विकास को रोकती है। मात्र अपने स्वार्थ के लिए कार्य करना पापपूर्ण है। व्यक्ति का कल्याण समाज के कल्याण में निहित है। सुधीजन पूरे समाज के लिए काम करते हैं, जबकि अज्ञानी मात्र अपने लिए। तत्त्वज्ञानी व्यक्तिगत लाभ की परछाईं अपने कर्तव्य के मार्ग पर कभी नहीं पड़ने देता।

योगस्थः कुरु कर्माणि सद्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय, परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में स्थित होकर, सभी प्रकार की आसक्तियों को त्यागकर, तथा सफलता और असफलता में सम होकर, अपने कर्तव्यकर्मों का भलीभांति पालन करो। मन का समत्व-भाव में रहना ही योग कहलाता है। (२.४८)

सुख और दुःख, जन्म और मृत्यु, लाभ और हानि, मिलन और वियोग कर्म के अधीन होने से दिन और रात के आगमन की भांति अवश्यम्भावी हैं। मूर्ख समृद्धि में आनन्दित होते हैं और दुर्भाग्य पर शोक करते हैं, किन्तु कर्मयोगी सब परिस्थितियों में समान, अर्थात् स्थितप्रज्ञ, रहता है (तु.रा. १४६.०३-०४)। योग को निम्न श्लोकों में भी परिभाषित किया

गया है — २.४८, २.५०, २.५३, ६.०३, ६.०४, ६.०८, ६.१६, ६.२३, ६.२६, ६.३१, ६.३२ और ६.४७.

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय ।

बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

कर्मयोग से सकामकर्म अत्यन्त निकृष्ट है; अतः हे अर्जुन, तुम कर्मयोगी बनो, क्योंकि फल की इच्छा रखनेवालों को (असफलता का भय तथा) दुःख होता है. (२.४९)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मफल की आसक्ति त्यागकर कर्म करनेवाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तुम निष्काम कर्मयोगी बनो. (फल की आसक्ति से असफलता का भय होता है, जिसके कारण कर्म अच्छी तरह नहीं हो पाता है.) निष्काम कर्मयोग को ही कुशलतापूर्वक कर्म करना कहते हैं. (२.५०)

शान्ति, कर्मबन्धन से मुक्ति और आत्मसंतोष उन्हीं के लिए है, जो अनासक्त-भाव से किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए कर्म करते हैं और व्यक्तिगत लाभ या सम्मान की खोज में नहीं हैं. ऐसे व्यक्ति निःस्वार्थ सेवा की सुखानुभूति पाते हैं, जो अन्त में उन्हें मुक्ति दिलाती है. कर्मयोग मन और बुद्धि को पावन बनाता है और यह बड़ी शक्तिशाली साधना है. सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है. गुण और दोष के फल केवल स्वार्थ के पेड़ पर ही फलते हैं, सेवा-वृक्ष पर कभी नहीं.

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि व्यक्ति तभी कठिन परिश्रम से काम करता है, जब कर्मफल के प्रति उसकी गहरी रुचि या आसक्ति होती है. अतः कर्मयोग या निःस्वार्थ सेवा व्यक्ति या समाज की भौतिक उन्नति के लिए शायद बहुत प्रेरणादायक नहीं हो सकता. यह दुविधा अपनी इच्छा के किसी श्रेष्ठ ध्येय के लिए निःस्वार्थ सेवा की अभिरुचि पैदा कर दूर की जा सकती है. फल के लोभ से कभी भी कर्म की पवित्रता को मलिन नहीं होने देना चाहिए. कमल की कुशलता है जल से नहीं भीगने में; कार्य की कुशलता है कर्म करते हुए कर्मबन्धन से नहीं बंधने में.

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यु अनामयम् ॥५१॥

ज्ञानी कर्मयोगीजन कर्मफल की आसक्ति को त्यागने के कारण जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तथा परम शान्ति को प्राप्त करते हैं. (२.५१)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर् व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल को पार कर जाएगी, उस समय तुम शास्त्र से सुने हुए तथा सुनने योग्य वस्तुओं से भी वैराग्य प्राप्त करोगे. (२.५२)

ज्ञान की प्राप्ति के बाद धर्मग्रन्थ अनावश्यक हो जाते हैं. शंकराचार्य के अनुसार इस श्लोक का अर्थ है कि जिस व्यक्ति ने अज्ञान के पर्दे को छिन्न-भिन्न कर दिया है और सत्य को पा लिया है, वह वैदिक ग्रन्थों के प्रति, जो वांछित फलों की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डों का विस्तृत विधान प्रतिपादित करते हैं, उदासीन हो जाता है.

श्रुतिविव्रतिपत्रा ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस् तदा योगम् अवाप्स्यसि ॥५३॥

जब अनेक प्रकार के प्रवचनों को सुनने से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में निश्चल रूप से स्थिर हो जायगी, उस समय तुम समाधि में परमात्मा से युक्त हो जाओगे. (२.५३)

धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का अध्ययन या विभिन्न दार्शनिक रचनाओं का पठन निश्चय ही संप्रान्ति को जन्म देता है. श्री रामकृष्णने कहा है कि व्यक्ति को धर्मग्रन्थों से यही सीखना चाहिए कि केवल ईश्वर ही सत्य है, यथार्थ है और विश्व मायामय है. नौसिखिया को जानना चाहिए कि केवल ईश्वर ही शाश्वत सत् है, शेष सब कुछ मिथ्या है. आत्मज्ञान के बाद व्यक्ति जान लेता है कि ईश्वर ही सब कुछ बन गया है. सब कुछ उसी का प्रकटीकरण है. अनन्य रूपों में यह सब उसी की लीला है. समाधि में विभिन्न विरोधी विचारों से उत्पन्न प्रान्ति मिट जाती है और संतुलन मिल जाता है.

विभिन्न विचारधाराएं, मतमतान्तर, दर्शन, पूजाविधान और वैदिक संस्कृति में प्रचलित आध्यात्मिक रीतिरिवाज योग की सीढ़ी के विभिन्न सोपान हैं. साधनों के इतने विकल्प किसी और धर्म, पन्थ, पद्धति या मार्ग में नहीं मिलते. विकास की स्थितियों की विभिन्नता के कारण लोगों की वृत्तियां अलग-अलग हैं. अतः भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न विचारधाराएं अनिवार्य हैं तथा विकास के सोपान पर चढ़नेवाले एक व्यक्ति के लिए भी वे जरूरी हैं. सीढ़ी का उच्चतम सोपान है शंकराचार्य का अद्वैतवाद, जो अधिकतर लोगों की समझ से बाहर है. सब विचारधाराएं और मतमतान्तर आवश्यक हैं. उनसे व्यक्ति को प्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रान्ति पैदा करना उनका मन्तव्य नहीं है; किन्तु उनमें से किसी एक का बुद्धिपूर्वक चयन करना आवश्यक है.

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किम् आसीत् व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले— हे केशव, समाधिप्राप्त, स्थिर बुद्धिवाले अर्थात् स्थितप्रज्ञ मनुष्य का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है. (२.५४)

आत्मज्ञानी के लक्षण

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येव् आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस् तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, जिस समय साधक अपने मन की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णरूप से त्याग देता है और आत्मा में आत्मानन्द से ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है. (२.५५)

शारदा मां के अनुसार ज्ञान, भक्ति और मुक्ति की कामनाओं को कामनाओं की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये उच्चतर कामनाएं हैं. पहले व्यक्ति को क्षुद्र कामनाओं की जगह उच्चतर कामनाएं ग्रहण करनी चाहिए, फिर उच्चतम कामना का भी परित्याग करके पूर्णतः मुक्त हो जाना चाहिए.

दुःखेष्व् अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर् मुनिर् उच्यते ॥५६॥

दुःख से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख की जिसकी आकांक्षा नहीं होती तथा जिसके मन से राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।
(२.५६)

व्यक्तियों, स्थानों और पदार्थों का मोह बुद्धि को हर लेता है और व्यक्ति को अदूरदर्शी बना देता है। लोग मोह के बन्धन में बुरी तरह जकड़े हुए हैं। ज्ञान के द्वारा इस बन्धन को काटकर व्यक्ति को अनासक्त और मुक्त होना सीखना पड़ता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस् तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जिसे किसी भी वस्तु में आसक्ति न हो, जो शुभ को प्राप्तकर प्रसन्न न हो और अशुभ से द्वेष न करे, उसकी बुद्धि स्थिर है। (२.५७)

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जब साधक सब ओर से अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस तरह हटा ले जैसे कछुआ (विपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए) अपने अंगों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए। (२.५८)

जब व्यक्ति लुभानेवाले पदार्थों से इन्द्रियों को वैसे ही हटाना सीख लेता है, जैसे संकटकाल में कछुआ अपने खोल के भीतर अपने अवयवों को समेट लेता है और संकट टल जाने तक उसे उन अवयवों को बाहर निकालने को कोई बाध्य नहीं कर सकता, तब ज्ञान-दीप प्रज्वलित हो उठता है और व्यक्ति को अपने भीतर स्वयं प्रभासित परमात्मा की प्रतीति होती है (म.भा. १२.१७४.५१)।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियों को विषयों से हटानेवाले मनुष्य से विषयों की इच्छा तो हट भी जाती है, परन्तु विषयों की आसक्ति दूर नहीं होती। परमात्मा के स्वरूप को भलीभांति समझकर स्थितप्रज्ञ मनुष्य (विषयों की) आसक्ति से भी दूर हो जाता है। (२.५९)

ऐन्द्रिय भोग का त्याग करने से अथवा बीमारी या वृद्धावस्था के कारण शारीरिक शक्तियों के क्षीण होने से ऐन्द्रिय सुख की लालसा भी लुप्तप्राय हो जाती है, किन्तु राग-वासना नहीं मरते। जिन्होंने परमप्रभु के ऐकात्म्य का अमृत पी लिया होता है, उन्हें फिर कभी निम्न कोटि के ऐन्द्रिय भोग में सुख नहीं मिलता।

अनियन्त्रित इन्द्रियों के दुष्परिणाम

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कुन्तीनन्दन, संयम का प्रयत्न करते हुए ज्ञानी मनुष्य के मन को भी चंचल इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं। (२.६०)

मन का कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। सुधीजन सदा मन के प्रति सजग रहते हैं। आत्मज्ञानी व्यक्ति को भी मन भटका सकता है (भा.पु. ५.०६.०२-०५)। मन की प्रक्रियाओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए मनके प्रति निरन्तर सजग रहना चाहिए। सजगता में तब तक तनिक भी असावधानी नहीं होनी चाहिए, जब तक श्रीकृष्ण को सर्वसम्पन्न परमप्रभु के रूप में जानने का ध्येय पूरा न हो जाए। शारदा मां का कथन है— जिस प्रकार जल की प्रकृति नीचे की ओर बहने की है, उसी प्रकार मन का स्वभाव ही भोग

के निम्न पदार्थों की ओर जाने का है. प्रभु की कृपा मन को उच्च ध्येयों की ओर ले जा सकती है, जैसे सूर्य की किरणें जल को ऊपर उठाने में समर्थ हैं.ए

मन हमेशा धोखा देने और चाल खेलने को तत्पर रहता है. अतः अनुशासन, सतर्कता और साधना की सतत जरूरत है. मन उस बेलगाम घोड़े की तरह है जिसे सधाने की आवश्यकता है. मन को कभी भी ऐन्द्रिय भोग के क्षेत्र में खुले भटकने नहीं देना चाहिए. आध्यात्मिक-साधना का मार्ग बहुत फिसलन भरा है और पतन से बचने के लिए उसपर बहुत सावधानी से चलना चाहिए. यह आनन्द के लिए किए गए नौका-विहार की तरह न होकर तेज धारवाली तलवार पर चलने-जैसा अत्यन्त कठिन है. इस मार्ग पर बहुत बाधाएं और भटकने आती रहती हैं.

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिए साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मुझमें श्रद्धापूर्वक ध्यान लगाकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है.

(२.६१)

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस् तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करने से विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से (विषयों के सेवन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा (पूरी नहीं होने) से क्रोध होता है.

(२.६२)

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है. सम्मोह से मन भ्रष्ट हो जाता है. मन भ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन होता है. (२.६३)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेष से रहित संयमी साधक अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ शान्ति प्राप्त करता है. (२.६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर् अस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

शान्ति से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और शान्तचित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होकर परमात्मा से युक्त हो जाती है. (२.६५)

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

(ईश्वर से) अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में न ईश्वर का ज्ञान होता है, न ईश्वर की भावना ही. भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त मनुष्य को सुख कहां? (२.६६)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥६७॥

जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसके लक्ष्य से दूर टकेल देता है, वैसे ही इन्द्रिय-सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है। (२.६७)

दीपशिखा के प्रकाश के भोग के आनन्द का लोभ पतंगों को विनाश की ओर ले जाता है। इसी प्रकार ऐन्द्रिय सुखों के भोग की लालसा व्यक्ति को आत्मज्ञान से दूर रखती है और आवागमन के जाल की ओर ले जाती है (म.भा. ३.०२.६६)

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां सर्वथा विषयों के वश में नहीं होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। (२.६८)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी मनुष्य जागा रहता है; और जब साधारण मनुष्य जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि के समान होता है। (२.६९)

योगी जीवन की सांसारिक रात्रि में जाग्रत् या अनासक्त रहते हैं, क्योंकि वे परम सत्य की खोज में हैं। जो व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होता है, वह जाग्रत् अर्थात् प्रबुद्ध समझा जाता है (तुरा. २.६२.०२)। योगी को आत्मा की सतत प्रतीति रहती है, जिसके बारे में अन्य लोग अनभिज्ञ रहते हैं। सन्त, जो परम सत्य को जानता है, ऐन्द्रिय भोग-पदार्थों से — जिसकी प्रतीति अन्य लोगों को रहती है — अनभिज्ञ रहता है। भौतिकवादी व्यक्ति से योगी का जीवन सर्वथा भिन्न होता है। जहां अधिकतर व्यक्ति मायावी संसार की रात्रि में सोए, सपनों की योजनाएँ रचते रहते हैं, वहां योगी जाग्रत् रहता है, क्योंकि वह संसार में रहते हुए भी उससे अनासक्त रहता है।

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं

समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्भ्रत् ।

तद्भ्रत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सभी नदियों के जल समुद्र को विचलित किए बिना परिपूर्ण समुद्र में समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस संयमी मनुष्य में विकार उत्पन्न किए बिना समा जाते हैं, वह मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है, न कि भोगों की कामना करनेवाला। (२.७०)

जिस प्रकार नदी अपने मार्ग में आए लकड़ी आदि पदार्थों को बहाकर ले जाती है, उसी प्रकार कामनाओं की सरिता की प्रचण्ड धारा भी भौतिकवादी व्यक्ति के मन को बहा ले जाती है। योगी का मन उस प्रशान्त महासागर की तरह है, जिसमें कामनाओं की सरिताएं बिना उसे आन्दोलित किए समाहित हो जाती हैं। योगी व्यक्तिगत लगभ-हानि के बारे में चिन्तन नहीं करता। मानव कामनाएं अनन्त हैं। कामना का तुष्टीकरण खारा जल पीने के समान है, उससे प्यास बुझती नहीं और बढ़ जाती है। कामनाओं की पूर्ति का प्रयास पेट्रोल द्वारा आग बुझाने-जैसा है।

भौतिक कामना की पूर्ति का प्रयत्न करना वैसा ही है, जैसा और लकड़ी डालकर आग को बुझाना। लकड़ी न डालने से आग स्वतः ही बुझ जाती है (म.भा. १२.१७.०५)। यदि कोई व्यक्ति महान् शत्रु रूपी इच्छाओं (अर्थात् मन) पर विजय प्राप्त किए बिना मर जाता है, तो विजय होने तक उसे इस शत्रु से लड़ने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है (म.भा. १२.१६.२४)। जिस प्रकार व्यक्ति वायु के द्वारा आन्दोलित जल में अपना प्रतिबिम्ब नहीं

देख सकता, उसी प्रकार भौतिक इच्छाओं की आंधी से उत्तेजित मन और इन्द्रियों वाला व्यक्ति ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकता (म.भा. १२.२०४.०३)।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिम् अधिगच्छति ॥७१॥

जो मनुष्य सब कामनाओं को त्यागकर इच्छारहित, ममतारहित तथा अहंकाररहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है. (२.७१)

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य मोहित नहीं होता. अन्तसमय में भी इस निष्ठा में स्थित होकर मनुष्य ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है. (२.७२)

ब्रह्म ही परम तत्त्व है, सत्य है, ज्ञान है, चेतना है, अनन्त है और परम आनन्द है (तैत्ति.उ. २.०१.०१). ब्रह्म को जानने पर जीव रसानन्दमय हो जाता है. आनन्द का दाता स्वयमेव आनन्द ही है, जैसे धनदाता धनिक ही है (स्वामी शिवानन्द). ब्रह्म इस सृष्टि के आदि, अस्तित्व और विनाश का स्रोत है (ब्र.सू. १.०१.०२, तैत्ति.उ. ३.०१.०१). ज्ञान ब्रह्म का प्राकृतिक धर्म नहीं, सहज स्वभाव है (देवी.भा. ७.३२.१६). ब्रह्म ही विश्व का उपादान और निमित्त (material and instrumental) दोनों कारण है. वही ऊर्जा का स्रोत भी है और कुण्ड भी. उसे ही संयुक्त-क्षेत्र (Unified Field), परमात्मा, शाश्वत पुरुष, दिव्य पुरुष और सम्पूर्ण चेतना भी कहा गया है; जो बुद्धि और मन के द्वारा सब प्राणियों को बोध प्रदान करता है.

ब्रह्मनिर्वाण (गीता २.७२, ५.२४, ५.२५ और ५.२६), परमनिर्वाण (गीता ६.१५) तथा मुक्ति शब्द से हिन्दू धर्म के अनुसार अभिप्राय है कारणात्मक शरीर से वासनाओं के सब चिह्नों का सम्पूर्ण विनाश और जीवात्मा का परमात्मा में एकीकरण. कुछ लोगों का मानना है कि सार्वभौमिक, सार्वकालिक परमात्मा ही कारणात्मक शरीर है, जो सब कुछ चला रहा है तथा स्वयं करुणाभाव से अनासक्त और निर्लिप्त रहता है. प्राणियों का आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने को मुक्ति कहते हैं. बौद्धधर्म में निर्वाण तथा हिन्दूधर्म में मोक्ष का अभिप्राय है सांसारिक कामनाओं और अहम् की समाप्ति. मोक्ष की परिभाषा है प्राणी की वह अवस्थिति, जिसमें समस्त सांसारिक कामनाओं और व्यक्तिगत रुचियों तथा अरुचियों का पूर्णतः शमन हो गया है. मोक्ष शरीर-चेतना से निकल कर आत्म-चेतना की स्थिति को प्राप्त करना है, भौतिक शरीर के प्रति मोह का क्षय हो जाना है, कृष्णानन्द में लीन होने की अनुभूति है. मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्मनिर्वाण, परमनिर्वाण आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में किया जाता है.

इस प्रकार सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ तृतीयोऽध्यायः

कर्मयोगः

३. कर्मयोग

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत् कर्मणस् ते मता बुद्धिर् जनार्दन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तद् एकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चित रूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२)

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है. जिनकी रुचि ज्ञान में होती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचिवालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३)

ज्ञानयोग को सांख्ययोग या संन्यासयोग भी कहा जाता है. ज्ञानयोगी स्वयं को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानता. ज्ञान का अर्थ है तात्त्विक अतीन्द्रिय ज्ञान. यहां यह भी बताना जरूरी है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही परमात्मा की उपलब्धि के साधन हैं. जीवन में इन दोनों मार्गों का समन्वय श्रेष्ठ माना जाता है. हमें आत्मज्ञान की साधना और निःस्वार्थ सेवा दोनों को अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए.

न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनाद् एव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४)

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य् अकर्मकृत् ।

कार्यते ह्य् अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः ॥५॥

कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से परवश की तरह सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५)

विचार, शब्द और क्रिया से प्रसूत कर्म का पूर्ण त्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं है. अतः व्यक्ति को हमेशा अपनी रुचि के साधनों से प्रभुसेवा में सक्रिय रहना चाहिए, क्योंकि खाली दिमाग शैतान का घर है. आकांक्षाविहीन मनःस्थिति के साथ आमरण कर्म करते रहना कर्मत्याग तथा प्रभुप्राप्ति के बाद बिताए तापस जीवन, दोनों से श्रेयस्कर है, क्योंकि तापस भी कर्म के आवेग से मुक्त नहीं हो पाता.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमृदात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है. (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों?

यस त्व् इन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है. (३.०७)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्य् अकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धेद् अकर्मणः ॥८॥

तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा. (३.०८)

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बंध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, कर्मफल की आसक्ति त्यागकर सेवाभाव से भलीभांति अपने कर्तव्यकर्म का पालन करो. (३.०९)

यज्ञ का अर्थ है त्याग, निःस्वार्थ सेवा, निष्काम कर्म, पुण्य कार्य, दान, देवों के लिए दी गई हवि — हवन के माध्यम से — के साथ की गई पूजा आदि.

पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्व इष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निःस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण कर कहा — “इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देनेवाला हो.” (३.१०)

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ॥११॥

तुम लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और देवगण तुम लोगों को उन्नत करें. इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे. (३.११)

देव का अर्थ है परमप्रभु का प्रतिनिधि, अलौकिक शासक, दिव्य पुरुष, वह शक्ति, जो इच्छाओं की पूर्ति करता है, जो नियन्ता और रक्षक है. सुधीजन अपना जीवन दूसरों की सेवा करके सफल बनाते हैं, जबकि मूर्ख लोग दूसरों को हानि पहुंचाकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं. अकेले प्रवेश करने की इच्छा रखनेवालों के लिए स्वर्ग के द्वार भी बन्द रहेंगे. वेदों के अनुसार दूसरों की सहायता करना व्यक्ति के लिए श्रेष्ठतम पुण्य कर्म है. “एक दूसरे की सेवा करना” सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का प्रथम आदेश है, जिसे भगवान् कृष्ण ने गीता में पूर्ण रूप से बताया है.

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे. देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है. (३.१२)

यहां प्रभु ने देवों और मानवों में, मानव और मानव में, राष्ट्र और राष्ट्र में तथा विभिन्न आध्यात्मिक संस्थाओं में प्रतिद्वन्द्विता-विहीन सहयोग-भाव की ओर संकेत किया है. जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य लोगों की त्यागमयी सेवाओं से होती है. हमारा जन्म ही एक दूसरे पर निर्भर होने के लिए हुआ है. स्वामी चिन्मयानन्द ने विश्व को सहयोगकर्म का ब्रह्माण्ड-चक्र कहा है. व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति में प्रतिद्वन्द्विता की अपेक्षा सहयोग अधिक लाभदायक है. सहयोग और दूसरों की सहायता के बिना किसी भी सार्थक काम की सिद्धि नहीं हो सकती. भगवान् राम को भी अपने काम में दूसरों की सहायता लेनी पड़ी थी. यह विश्व श्रेष्ठतर स्थान होगा, यदि परस्पर लड़ने या हौड़ करने की अपेक्षा इसके सारे निवासी एक दूसरे को सहयोग और सहायता दें. स्वार्थपूर्ण उद्देश्य

ही आध्यात्मिक संस्थाओं को भी पारस्परिक सहयोग से रोकता है, जिसके कारण सनातन हिन्दूधर्म का विश्व में विशेष रूप से प्रचार-प्रसार नहीं हो पाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्व अघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें।) (३.१३)

भोजन भगवान् के लिए पकाया जाना चाहिए और उपभोग से पूर्व प्रेमपूर्वक भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए। बच्चों को भोजन करने से पूर्व प्रार्थना करना सिखाया जाना चाहिए। प्रार्थना और प्रभु को धन्यवाद देने से पहले भोजन ग्रहण न करना गृहस्थ का नियम होना चाहिए।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसंभवः ।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से होता है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से। कर्म वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो। इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ (अर्थात् सेवा) में प्रतिष्ठित है। (४.३२ भी देखें।) (३.१४-१५)

ब्रह्म के स्रष्टारूप का नाम ब्रह्मा है। ब्राह्मण भारत में बौद्धिक वर्ग का नाम है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सृष्टिचक्र के चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है। (३.१६)

गेहूँ का दाना भूमि में डाले जाने और समा जाने के बिना मात्र एक दाना है। बलिदान होने पर ही वह अनेक दानों को जन्म देता है (जॉन १२.२४)। सन्त, वृक्ष, सरिता और पृथ्वी दूसरों के उपयोग के लिए ही हैं।

यस् त्वात्मरतिर् एव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस् तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसा आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। (३.१७)

समस्त कर्तव्य, दायित्व, निषेध, नियम और प्रतिबन्ध व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने के लिए ही हैं। पूर्ण योगी के लिए कोई भी सांसारिक दायित्व नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसका कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता। (३.१८)

नेता उदाहरण बनें

तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परम् आप्नोति पुरुषः ॥१९॥

इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है।

(३.१९)

कर्मयोग-दर्शन — मानवता के कल्याण के लिए निःस्वार्थ समर्पण — का प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता से पूर्व लिखे किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में इतना सुन्दर नहीं हुआ है। परोपकारिता के आदर्श को भगवान् कृष्ण ने पूजा और साधना के श्रेष्ठतम रूप के स्तर पर उठाकर रख दिया है। निष्कामकर्म से व्यक्ति को शालीनता मिलती है, शालीनता से आस्था और आस्था से परम सत्य की प्रतीति होती है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है: परोपकारी कार्य से हमारे शरीर में कुण्डलिनी और पराशक्ति जाग्रत् होती है।

कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥२०॥

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। लोककल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है। (३.२०)

निःस्वार्थ सेवा करनेवाले कर्म से नहीं बंधते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं (वि.पु. १.२२.५२). दूसरों के हित का ध्यान रखनेवालों की पहुँच के कुछ भी बाहर नहीं है। स्वामी हरिहर जी कहते हैं: मानवता की निःस्वार्थ सेवा ही प्रभु की सच्ची सेवा और श्रेष्ठतम पूजा है।

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् तत् तद् एवेतरो जनः ।

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस् तद् अनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो आदर्श बताता है, जनसमुदाय उसीका अनुसरण करता है। (३.२१)

लोग महापुरुषों का अनुसरण करते हैं (भा.पु. ५.०४.१५). मैंने तुम्हारे सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, ताकि तुम वही करोगे जो मैंने तुम्हारे लिए किया है (जॉन १३.१५).

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तम् अवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ। (३.२२)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

उत्सीदेयुर् इमे लोका न कुर्या कर्म चेद् अहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः ॥२४॥

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो, हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे। इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूँगा। (३.२३-२४)

सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद् विद्वांस् तथासक्तश् चिकीर्षुर् लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५)

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२९ भी देखें.) (३.२६)

प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की महत्ता उसके दो विरोधी विचारों और विरोधाभासों को संभालने की क्षमता में है; जैसे संसार में निरासक्त आसक्ति के साथ जीना. अधिकांश व्यक्ति केवल तभी परिश्रमपूर्वक काम करते हैं, जब उन्हें कर्मफल के भोग या आर्ष ध्येय की प्राप्ति की प्रवर्तक शक्ति ऐसा करने की प्रेरणा देती है. ऐसे व्यक्तियों को हतोत्साहित नहीं करना चाहिए, न उनकी भर्त्सना करना जरूरी है. सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति, न कि स्वयं सम्पत्ति, दुःख का कारण बनती है. जिस प्रकार व्यक्ति के लिए पूजा, प्रार्थना आदि करने में पूर्ण एकाग्रता जरूरी है, उसी प्रकार व्यक्ति के लिए सांसारिक कर्तव्यों की पूर्ति में भी सम्पूर्णतः ध्यानावस्थित होना आवश्यक है, पूरी तरह यह भी जानते हुए कि संसार और इसके क्रिया-कलाप क्षणिक हैं, संचारी हैं. सांसारिक कर्तव्यों की अवहेलना करके व्यक्ति को भगवान् के ध्यान में रत नहीं रहना चाहिए. श्री योगानन्द जी का कथन है— ध्यान के प्रति भी उतनी ही निष्ठा रखो जितनी धनोपार्जन में. व्यक्ति को केवल एकतरफा जीवन नहीं जीना चाहिए.

सभी कर्म प्रकृति करती हैं

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥२७॥

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपनेआप को ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र है). (५.०९, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (३.२७)

ईश्वर सब कर्मों का कर्ता है. सब कुछ प्रभु की इच्छा के अधीन है. व्यक्ति स्वयं की मृत्यु के लिए भी स्वतंत्र नहीं है. व्यक्ति तब तक प्रभुदर्शन नहीं कर सकता, जब तक वह यह सोचता है कि मैं ही कर्ता हूँ. ईश्वर की कृपा से यदि उसे यह अनुभूति हो जाती है कि वह कर्ता नहीं है, तो वह जीवनमुक्त हो जाता है. हमी कर्ता हैं, हमी भोक्ता हैं, ऐसा विचार कर्मबन्धन को जन्म देता है. आत्मज्ञानी और साधारण व्यक्ति के द्वारा किया गया एक ही काम भिन्न-भिन्न परिणाम देता है. आत्मज्ञानी द्वारा किया गया कर्म आध्यात्मिक हो जाता है और कर्मबन्धन को जन्म नहीं देता, क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं को कर्ता या भोक्ता नहीं मानता. सामान्य-जन द्वारा किया गया काम कर्मबन्धन को जन्म देता है.

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) कर्म में आसक्त नहीं होते. (३.२८)

प्रकृतेर् गुणसंमूदाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गए) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्म के मार्ग से विचलित न करें. (३.२६ भी देखें.) (३.२९)

प्रबुद्ध व्यक्ति को प्रकृति की शक्तियों के सम्मोहन में स्वार्थ सिद्धि के लिए किए जानेवाले कामों से अज्ञानियों को हतोत्साहित या विमुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में कर्मत्याग के स्थान पर कर्मरत होना ही अन्त में उन्हें ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाएगा.

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर् निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझमें चित्त लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझमें अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो. (३.३०)

ये मे मतम् इदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढांस् तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥३२॥

जो मनुष्य बिना आलोचना किए, श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा खोया हुआ समझना चाहिए. (३.३१-३२)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी अपने स्वभाव-वश ही कर्म करते हैं. ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है. फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है? (३.३३)

यह ठीक है कि हम अपनी प्रकृति का दमन नहीं कर सकते; न वैसा करना चाहिए, किन्तु हमें अपने क्रमिक विकास के लिए मानवीय जीवन की विवेकशक्तियों का प्रयोग करते हुए इन्द्रियों का दास नहीं, स्वामी होना चाहिए. इन्द्रियों के नियन्त्रा होने का सर्वोत्तम तरीका है अपनी इन्द्रियों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में करना.

पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएँ

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर् न वशम् आगच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण-मार्ग में विघ्न डालनेवाले, दो महान् शत्रु रहते हैं. इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए.

(३.३४)

राग का अर्थ है पुनः पुनः ऐन्द्रिय सुख अनुभव करने की कामना और आसक्ति. द्वेष का अर्थ है अप्रिय वस्तु के प्रति वितृष्णा. ज्ञान की प्राप्ति और प्रसार आदि सभी मानवीय क्रियाकलाप का आधार मन की शान्ति और सुख की खोज ही है. कामना — प्रभु द्वारा प्रदत्त अन्य शक्तियों की भांति —समस्या नहीं है. मन की उचित दशा में, राग-द्वेष पर नियंत्रण रखते हुए कामनाएं की जा सकती हैं. यदि हम अपनी कामनाओं पर नियंत्रण रख सकते हैं, तो जो भी हमारे पास है, वह आवश्यकता न होकर ऐश्वर्य हो जाता है. इस

दृष्टिकोण के साथ हम अपनी समस्त अरुचियों और अभिरुचियों के स्वामी हो सकते हैं। इसके लिए अनिवार्य है वह मनोदशा, जो हर वस्तु को ऐश्वर्य का रूप दे दे। ज्ञान, अनासक्ति और भक्तिवालों को किसी सांसारिक पदार्थ, व्यक्ति या कर्म के प्रति न रुचि होती है, न अरुचि।

व्यक्ति को निजी रुचियों या अरुचियों का ध्यान रखे बिना कर्तव्यभावना से कर्म करना चाहिए। इस युग में कर्मयोग ही वह तपस्या है, जिसके द्वारा व्यक्ति हिमालय के वनों या पर्वतों में गए बिना समाज में रहते और कर्म करते हुए भगवान् तक पहुंच सकता है।

प्रभु के लिए किया गया कर्म सभी के लिए लाभदायक है, वैसे ही जैसे एक-एक पत्ती को जल देने की अपेक्षा पेड़ की जड़ को सींचने से पेड़ के हर भाग को पानी मिल जाता है। ज्ञान और वैराग्य पाते ही सुधीजनों की सब रुचियों और अरुचियों का विनाश हो जाता है। पूर्णता के मार्ग में व्यक्तिगत अभिरुचियां और अरुचियां दो मुख्य बाधाएं हैं। राग-द्वेष पर विजय पानेवाला व्यक्ति मुक्त पुरुष हो जाता है और मोक्ष पा लेता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है। स्वधर्म के कार्य में मरना भी कल्याणकारक है। अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है। (१८.४७ भी देखें।) (३.३५)

अपने स्वभाव द्वारा नियत कर्तव्य का पालन-कर्ता कर्मबन्धनों से मुक्त रहता है और धीरे-धीरे भौतिक प्रकृति के त्रिगुणात्मक संसार से ऊपर उठ जाता है (भा.पु. ७.११.३२)। अपने स्वभाव या संस्कार-जन्य कर्म से ही व्यक्ति का विकास होता है। जो उस काम में हाथ डालता है जिसके लिए वह बना नहीं है, उसे अवश्य ही असफलता मिलती है। स्वाभाविक कर्म तनाव पैदा नहीं करता और रचनात्मकता का स्रोत है। अपने स्वभाव के विपरीत कर्म न केवल तनावपूर्ण होता है, बल्कि फलदायक भी नहीं होता और उसमें आध्यात्मिक विकास और उन्नति के लिए भी मुक्त समय नहीं मिलता। दूसरी ओर, यदि कोई अति सहज या कलात्मक जीवन का अनुसरण करता है, तो हो सकता है वह गृहस्थ की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट कमा भी न सके। अतः सादा जीवन जिओ, अनावश्यक ऐश्वर्य-सामग्री को सीमित करो और निःस्वार्थ सेवा की अभिरुचि पैदा करो, ताकि जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में संतुलन रख सको। सन्तुलित जीवन ही सुखी जीवन है।

काम पाप का मूल है

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्न अपि वार्ष्णेय बलाद् इव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है? (३.३६)

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनम् इह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले— रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होनेवाले इस महापापी काम को ही तुम (आध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो. (३.३७)

रजोगुण बांछित फलों की प्राप्ति के लिए घोरकर्म की ओर प्रेरित करनेवाला मानसिक असन्तुलन है. काम — समस्त ऐन्द्रिय और भौतिक सुखों की गहन कामना — रजोगुण से पैदा होता है. अतृप्त काम क्रोध को जन्म देता है. फल-प्राप्ति में बाधा या व्यवधान होने से फल-प्राप्ति की गहन कामना भयावह क्रोध में बदल जाती है. अतः भगवान् कहते हैं कि रजोगुण-प्रसूत काम और क्रोध दो शक्तिशाली शत्रु हैं, जो व्यक्ति को पाप करने की ओर ले जा कर आत्मज्ञान — मानव-जीवन का परम ध्येय — के मार्ग से भटका सकते हैं. वस्तुतः व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बावजूद भी सांसारिक कामनाएं उसे पापकर्म में रत होने के लिए बाध्य करती हैं. भगवान् बुद्ध का कथन है— स्वार्थपूर्ण कामना ही सब पापों और शोक का मूल है.

धूमेनाव्रियते वहनिर् यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस् तथा तेनेदम् आवृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को ढक देता है. (३.३८)

आवृतं ज्ञानम् एतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान ढक जाता है. (३.३९)

काम और ब्रह्मज्ञान एक दूसरे के शाश्वत शत्रु हैं. काम का विनाश ब्रह्मज्ञान से ही हो सकता है.

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर् अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।

एतैर् विमोहयत्य् एष ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को ढककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)

काम पर विजय कैसे पाएं

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

मर्त्य पुरुष कामपाश से मुक्त होने पर अमर हो जाता है और इसी जन्म में मोक्ष पा लेता है (कठ.उ. ६.२४, बृह.उ. ४.०४.०७).

इन्द्रियाणि पराण्याहर् इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस् तु परा बुद्धिर् यो बुद्धेः परतस् तु सः ॥४२॥

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. (कठ.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें.)

(३.४२)

इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से आत्मा श्रेष्ठ है (म.भा.

१२.२०४.१०).

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठ.उ. ३.०३-०६ भी देखें.) (३.४३)

अनियंत्रित सांसारिक कामनाएं जीवन की सुन्दर आध्यात्मिक यात्रा को नष्ट कर देंगी. धर्मग्रन्थ मन में उत्पन्न हुई कामनाओं को समुचित नियंत्रण में रखने का मार्ग और साधन प्रदान करते हैं. शरीर की तुलना एक रथ से की जा सकती है, जिसमें यात्री-स्वामी-भोक्ता स्वरूप जीवात्मा भगवान् कृष्ण के परमधाम की ओर आध्यात्मिक यात्रा कर रहा है. कर्तव्य और त्याग उस रथ के दो पहिये और भक्ति उसका धुरा है. सेवा उसका मार्ग है और दैवीगुण मील के पत्थर. धर्मग्रन्थ अज्ञान के अंधेरे को दूर करने के लिए मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ हैं. मन और पंचेन्द्रियां इस रथ के घोड़े हैं. ऐन्द्रिय भोग-पदार्थ मार्गतट पर उगे हरित तृण हैं, रागद्वेष मार्ग के रोड़े हैं तथा काम, क्रोध और लोभ लुटेरे हैं. मित्र और सम्बन्धी मार्ग में अस्थायी रूप से मिले सहयात्री हैं. बुद्धि इस रथ का सारथी है. यदि बुद्धिरूपी सारथी को ज्ञान और इच्छाशक्ति से पवित्र और शक्तिशाली नहीं बनाया गया, तो बुद्धि मन को नियंत्रित न कर सकेगी और ऐन्द्रिय तथा भौतिक सुखों की सशक्त कामनाएं मन को अपने नियंत्रण में कर लेंगी. मन और इन्द्रियां दुर्बल सारथी, बुद्धि, पर आक्रमण कर उसे अपने नियंत्रण में कर लेंगे और मुक्तिमार्ग से भटकाकर वे जीवात्मा रूपी यात्री को आवागमन के गर्त में ढकेल देंगे.

यदि बुद्धि भलीभांति प्रशिक्षित है और आत्मज्ञान तथा विवेक की अग्नि में तपकर पावन हो चुकी है, तो वह आध्यात्मिक साधना और वैराग्य रूपी दो लगामों और यम-नियम के कोड़ों से इन्द्रियों के अश्वों को नियंत्रण में रखने में समर्थ होगी. सारथी को सदा लगाम पूरी तरह अपने हाथ में रखनी चाहिए, नहीं तो इन्द्रियों के अश्व रथ को अज्ञान के गर्त में ले जाएंगे. अधिकांश मोटरकार की दुर्घटनाएं चालक की क्षणिक असावधानी के कारण होती हैं, उसी तरह एक क्षण की असावधानी भी व्यक्ति को मार्ग से विचलित कर सकती है. अन्त में समाधि के आध्यात्मिक तट पर पहुंचने के लिए व्यक्ति को माया रूपी नदी को पार करने के हेतु — ध्यान और मनतरंगों को वश में करने तक — प्रभुनाम-जप के सेतु का सहारा लेना चाहिए. इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति मानवजन्म के ध्येय, आत्मज्ञान, को नहीं पा सकता.

अनुचित अस्थायी इन्द्रियसुखों से व्यक्ति स्वयं को विनष्ट न करे. इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति सारे विश्व को वश में कर सकता है और सभी उद्यमों में सफलता पा सकता है. मनोवेगों का पूर्ण निरस्तीकरण तो सम्भव नहीं है, किन्तु वे ज्ञान द्वारा नियंत्रण में रखे जा सकते हैं. जिस प्रकार वर्षाकाल में पावन गंगा नदी का स्वच्छ जल भी मैला हो जाता है, उसी तरह युवाकाल में बुद्धि भी दूषित हो जाती है. अच्छी संगति और जीवन के उच्च ध्येय का निर्धारण मन और बुद्धि को ऐन्द्रिय सुखों के भटकाव से प्रदूषित होने से बचाते हैं.

इस प्रकार कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ चतुर्थोऽध्यायः
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः

४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग
कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— मैंने कर्मयोग के इस अविनाशी सिद्धान्त को सूर्यवंशी राजा विवस्वान् को सिखाया, विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को सिखाया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना; परन्तु हे परन्तप, बहुत दिनों के बाद यह ज्ञान इस पृथ्वीलोक में लुप्त-सा हो गया। तुम मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि यह कर्मयोग एक उत्तम रहस्य है। (४.०१-०३)

पिछले अध्याय में विवेचित कर्मयोग को भगवान् ने सत्कर्म का गुह्यतम विज्ञान कहा है। कर्मयोगी स्वामी कर्मानन्द के अनुसार स्वयं भगवान् द्वारा इस रहस्य को प्रकट किए बिना कोई भी व्यक्ति इसका पालन नहीं कर सकता।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथम् एतद् विजानीयां त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥४॥

अर्जुन बोले— आपका जन्म तो अभी हुआ है तथा सूर्यवंशी राजा विवस्वान् का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, अतः मैं कैसे जानूँ कि आप ही ने विवस्वान् से इस योग को कहा था? (४.०४)

अर्जुन को शंका होती है कि उसके समकालीन श्रीकृष्ण ने किस प्रकार बहुत पहले प्राचीन काल में पैदा हुए राजा विवस्वान् को कर्मयोग-शास्त्र का उपदेश दिया था। गीता द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मात्र पांच हजार वर्ष पुराना नहीं है, वरन् आदियुगीन है। मानवता के कल्याण हेतु भगवान् द्वारा इसका पुनः वर्णन किया गया है। समस्त अवतारी पुरुष विस्मृत सत्य की अग्नि को पुनर्प्रभासित करने आते हैं। जो भी हम सुनते या पढ़ते हैं, वह सब विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न महापुरुषों द्वारा पहले भी कहा जा चुका है।

प्रभु के अवतार का उद्देश्य

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। (४.०५)

अजोऽपि सन्न अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय संभवाभ्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ. (१०.१४ भी देखें.) (४.०६)

योगमाया (अर्थात् ब्रह्मज्योति, नूर) भगवान् कृष्ण की आनन्द-शक्ति है. महामाया योगमाया का आंशिक प्रतिबिम्ब है. कालमाया महामाया का प्रतिबिम्ब है और माया ब्रह्म की अलौकिक, असाधारण और रहस्यमयी शक्ति है. महामाया, कालमाया और माया को आदि प्रकृति भी कहा गया है. प्रकृति को माया का प्रतिबिम्ब भी समझा जाता है. इस प्रकार योगमाया माया और प्रकृति दोनों का उद्गम है. गुरु नानकदेव ने कहा — “प्रभु ने माया रची है, जो हमें भुलावा देती है और नियंत्रण में रखती है.” माया का अर्थ सत्य की अवास्तविक, काल्पनिक और भ्रामक छवि भी है. माया की शक्ति के कारण व्यक्ति को ब्रह्म से पृथक् विश्व के अस्तित्व का आभास होता है. ब्रह्मज्योति अथवा योगमाया ब्रह्म की अदृश्य, सम्भावित, अन्तर्निहित ऊर्जा (Potential Energy) है, और माया ब्रह्म की कर्मशक्ति या गतिमान् ऊर्जा (Kinetic Energy) है. अग्नि और ताप की भांति माया और योगमाया अविच्छेद्य हैं. माया शब्द का प्रयोग सामान्य लोगों को जगत् का रहस्य समझाने के लिए रूपक के रूप में भी होता है. मन भी माया का एक रूप है.

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत ।

अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों का संहार तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं, परब्रह्म परमात्मा, हर युग में अवतरित होता हूँ. (तु.रा. १.१२०.०३-०४ भी देखें.) (४.०७-०८)

ब्रह्म दिव्य भी है और सार्वभौमिक भी (अथ.वे. ४.१६.०८). समय-समय परब्रह्म अवतरित होते हैं, क्योंकि दैवी विधान में जन-कल्याण के लिए उनकी आवश्यकता का अहसास होता है. जब-जब आसुरी शक्तियां धर्म के विनाश के लिए जन्म लेती हैं, तब-तब प्रभु उचित सन्तुलन के लिए अवतरित होते हैं (वा.रा. ७.०८.२७). प्रभु की करुणा ही उनके अवतार का मूल कारण है (शा.भ.सू. ४६). प्रभु के अवतरित होने के धर्म की रक्षा के अतिरिक्त और भी कारण हैं. ब्रह्म, जो जन्म-मरण से परे है, पृथ्वी पर भक्तों की मनोकामना की पूर्ति के लिए भी महान् आत्मा के माध्यम से मानवरूप में अवतरित होते हैं, क्योंकि भक्तजन प्रभु का दर्शन करना और उनके सगुण सान्निध्य में रहना चाहते हैं. तुलसीदास जी कहते हैं: यद्यपि प्रभु भौतिक गुणों से रहित, अनासक्त और निर्विकार हैं तथापि वे अपने भक्तों के लिए सगुण-साकार रूप धारण करते हैं (तु.रा. २.२१८.०३). श्री रामकृष्ण ने कहा था कि वे तीन सौ वर्षों तक अपने भक्तों के हृदयों और मनो में सूक्ष्मरूप में रहेंगे. योगानन्द जी का कहना है— जब तक विश्व में लोग सहायता के लिए मुझे पुकारेंगे, मैं अपनी नौका को खेने आता रहूंगा और उनको स्वर्गिक तटों पर ले जाने का आवाहन करता रहूंगा.

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति माम् एति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इसे जो मनुष्य भलीभांति जान लेता है, उसका मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह मेरे लोक, परमधाम, को प्राप्त करता है। (४.०९)

वीतरागभयक्रोधा मन्मया माम् उपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्रावम् आगताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे आश्रित तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर, बहुत-से मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। (४.१०)

प्रार्थना और भक्ति का मार्ग

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस् तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

हे अर्जुन, जो भक्त जिस किसी भी मनोकामना से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनकी मनोकामना की पूर्ति करता हूँ। मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मेरी शरण लेते हैं। (४.११)

मांगो और तुम पाओगे, खोजो और तम्हें मिलेगा, दस्तक दो और तुम्हारे लिए द्वार खुल जाएगा (ल्यूक ११.०६)। माया के कारण अधिकतर लोग स्वास्थ्य, धन, सफलता आदि अस्थायी भौतिक लाभ खोजते हैं; आत्मज्ञान और प्रभु के कमल-चरणों की भक्ति नहीं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर् भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्मफल के इच्छुक संसार के साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। (४.१२)

क्या तुम अपने पुत्र को रोटी मांगने पर पत्थर दोगे? स्वर्ग में अवस्थित तुम्हारा पिता जो मांगेगा, उन्हें अच्छी चीजें देगा (मैथ्यू. ७.०६-११)। जब तुम किसी वस्तु को प्रार्थना में मांगते हो, तो विश्वास रखो और आस्थावान् रहो कि तुम्हें वह मिल चुकी है और तुम्हें वह मिलेगी (मार्क ११.२४)। प्रार्थना में व्यक्ति आवश्यकता की वस्तु को पाने में प्रभु की सहायता के लिए विनती करता है। पूजा में प्रभु की आराधना और महिमा का गुणगान करते हुए प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता है, उन वस्तुओं के लिए जो व्यक्ति को प्राप्त हैं। सबसे पहले व्यक्ति को अपनी दुर्दशा से अवगत होना चाहिए और उस पर मनन करते हुए कठिनाइयों से मुक्त होने में अपनी अवशता का अनुभव करना चाहिए। अवशता की उस अवस्था में व्यक्ति को प्रार्थना के माध्यम से प्रभु की सहायता मांगनी चाहिए। यदि तुम्हें अपनी दुरवस्था का आभास है और तुम परिवर्तन के लिए प्रभु की सहायता की कामना करते हो, तो प्रभु पहला पग उठाएंगे। अपने को दिल खोलकर प्रकट करो, प्रभु के सामने अपना गुण-दोष स्वीकार करो, उन्हें बताओ कि तुम कैसे हो और क्या कर रहे हो। प्रार्थना में तुम जैसे हो, वैसे प्रभु से कहो, स्पष्ट रूप से जो चाहते हो, उसे मांगो और उनकी सहायता की पुकार करो।

ध्यान —मन को प्रशान्त करके, ग्रहणशीलता की मुद्रा धारण करते हुए — प्रभु के निर्देश, अन्तर्दृष्टि और रहस्योद्घाटन को प्राप्त करने के लिए प्रभु का श्रवण है। उदाहरण के लिए यह दृष्टिकोण अपनाना— प्रभु, मेरी प्रार्थना सुनने के लिए और उस सबके लिए, जो तुमने मुझे दिया है, धन्यवाद; किन्तु अब निर्देश करो कि जो तुमने दिया है उसका उपयोग मैं कैसे करूँ, इसमें तुम्हारी क्या इच्छा है? ऐसा कहकर निश्चल, सतर्क और ध्यानावस्थित होकर मात्र उसकी आवाज सुनने का प्रयत्न करो।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारम् अपि मां विद्ध्य अकर्तारम् अव्ययम् ॥१३॥

मेरे द्वारा ही चारों वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव और रुचि के अनुसार बनाए गए हैं। सृष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझे परमेश्वर को अविनाशी और अकर्ता ही जानना चाहिए। (क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं)। (१८.४१ भी देखें) (४.१३)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर् न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म का बन्धन नहीं लगता, क्योंकि मेरी इच्छा कर्मफल में नहीं रहती है। इस रहस्य को जो व्यक्ति भलीभांति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है। (४.१४)

जो कोई सर्वप्रमुख होना चाहे, वह सबसे पीछे होकर सबका सेवक बने (मार्क १०.४४)। सारे कर्म — प्रार्थना सहित — मात्र व्यक्तिगत लाभ के लिए न करके किसी अच्छे उद्देश्य और जनकल्याण के लिए करने चाहिए।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैर् अपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

प्राचीन काल के मुमुक्षुओं ने इस रहस्य को जानकर कर्म किए हैं। इसलिए तुम भी अपने कर्मों का पालन उन्हीं की तरह करो। (४.१५)

सकाम, निष्काम, और निषिद्ध कर्म

किं कर्म किम् अकर्मति कवयोऽप्यु अत्र मोहिताः ।

तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१६॥

विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें कर्म के रहस्य को समझाता हूँ; जिसे जानकर तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे। (४.१६)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सकाम कर्म, विकर्म अर्थात् पापकर्म तथा निष्कामकर्म (अर्थात् अकर्म) के स्वरूप को भलीभांति जान लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही न्यारी है। (४.१७)

सकाम कर्म स्वार्थपूर्ण कर्म है, जो कर्मबन्धन पैदा करता है। निषिद्ध कर्म को विकर्म कहते हैं, जो कर्ता और समाज दोनों के लिए हानिकारक है। अकर्म या निष्काम कर्म निःस्वार्थ सेवा है, जो मुक्ति की ओर ले जाता है।

कर्मयोगी को कर्म-बन्धन नहीं

कर्मण्यु अकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही ज्ञानी, योगी तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है। (अपने को कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है)। (३.०५, ३.२७, ५.०८, १३.२९ भी देखें) (४.१८)

सभी कर्म निष्काम सक्रिय कर्ता ब्रह्म के हैं। बाइबिल का कथन है— शब्द, जो तुम बोलते हो, तुम्हारे नहीं हैं। उनमें तुम्हारे परमपिता, प्रभु, की आत्मा बोलती है (मैत्थ्यु

१०.२०). सुधीजन ब्रह्म की अन्तर्निहित ऊर्जा (Potential Energy) के निष्क्रिय, अनन्त और अदृश्य भंडार में ब्रह्माण्ड की समस्त प्रभासित गतिमान ऊर्जा (Kinetic Energy) का मूल स्रोत देखते हैं, वैसे ही जैसे बिजली के पंखे की गति अदृश्य विद्युत् के संचरण से होती है. कर्म की प्रेरणा और शक्ति ब्रह्म से ही आती है. अतः व्यक्ति को समस्त कर्मों को अध्यात्ममय बना देना चाहिए, यह आभासकर कि व्यक्ति स्वयं कुछ भी नहीं करता है; सबकुछ हमें मात्र माध्यम बनाते हुए ब्रह्म की ऊर्जा से ही होता है.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तम् आहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सारे कर्मों के संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर स्वार्थरहित हो गए हैं, वैसे मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं. (४.१९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्य् अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥

जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का सर्वथा त्यागकर, परमात्मा में नित्यतृप्त रहता है तथा (भगवान् के सिवा) किसी का आश्रय नहीं लेता, वह कर्म करते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है (तथा अकर्म रहने के कारण कर्म के बन्धनों से सदा मुक्त रहता है.). (४.२०)

निराशीर् यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशरहित है, जिसके मन और इन्द्रियां वश में हैं, जिसने सब प्रकार के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है, ऐसा मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप (अर्थात् कर्म के बन्धन) को प्राप्त नहीं होता है. (४.२१)

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वतीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धाव् असिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अपनेआप जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और असफलता में समभाववाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है. (४.२२)

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसकी ममता तथा आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, ऐसे परोपकारी मनुष्य के कर्म के सभी बन्धन विलीन हो जाते हैं. (४.२३)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर् ब्रह्मान्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

यज्ञ का अर्पण, घी, अग्नि तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ में परमात्मा का ही स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है.

(४.२४)

जीवन स्वयं एक सतत प्रज्वलित अग्नि है, जहां निरन्तर यज्ञ जारी है. प्रत्येक कर्म को यज्ञ — पावन हवि कर्म —ही मानना चाहिए. हर चीज ब्रह्म नहीं है, किन्तु ब्रह्म हर वस्तु का मूल है. जब व्यक्ति हर कर्म में ब्रह्म के दर्शन करता है और सब वस्तुओं का उपयोग ब्रह्म के विभिन्न रूपों में करता है तथा उसे यह आभास हो जाता है कि समस्त

कर्मों की प्रक्रिया में भी ब्रह्म निहित है, तो वह मुक्ति पा लेता है और ब्रह्म में लीन हो जाता है.

यज्ञ के विभिन्न प्रकार

दैवम् एवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नाव् अपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहवति ॥२५॥

कोई योगीजन देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा (ज्ञानरूपी) यज्ञ का हवन करते हैं. (४.२५)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्य् अन्ये संयमाग्निषु जुहवति ।

शब्दादीन् विषयान् अन्ये इन्द्रियाग्निषु जुहवति ॥२६॥

अन्य योगी लोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं तथा कुच्छ लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२६)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहवति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२७)

द्रव्ययज्ञास् तपोयज्ञा योगयज्ञास् तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे साधक द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ तथा योगयज्ञ करते हैं और अन्य कठिन व्रत करनेवाले स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं. (४.२८)

अपाने जुहवति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

दूसरे कितने ही प्राणायाम करनेवाले योगीजन प्राण और अपान की गति को—अपानवायु में प्राणवायु का तथा प्राणवायु में अपानवायु का (क्रियायोग के द्वारा) हवन कर—रोक लेते हैं. (४.२९)

व्यावहारिक योग के श्लोकों (४.२६, ४.३०, ५.२७, ६.१३, ८.१०, ८.१२, ८.१३, ८.२४ और ८.२५) के गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ और विशद व्याख्या यहां सम्भव नहीं है. उन्हें क्रियायोग के सिद्ध आत्मज्ञानी से ही जाना जा सकता है.

योगाभ्यास का उद्देश्य श्वास-प्रक्रिया में शनैः शनैः प्रवीण होकर समाधि और परमचेतना प्राप्त कर लेना है. श्वास-प्रक्रिया की गति इस प्रकार कम की जा सकती है: (१) ऊपर-नीचे जाती हुई सागर की लहरों की तरह श्वास को भीतर जाते तथा बाहर आते देखकर (२) योगगहन श्वास (Deep yogic or Diaphragmatic breathing) का अभ्यास करके तथा (३) सोऽहम और क्रियायोग आदि योगिक प्रक्रियाओं का प्रयोग करके.

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुहवति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे साधक नियमित आहार करके प्राणवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं. ये सभी यज्ञों को जाननेवाले हैं तथा यज्ञ के द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते हैं. (४.३०)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्य् अयज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन), यज्ञ के प्रसादरूपी ज्ञानामृत को प्राप्तकर योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं. यज्ञ न करनेवाले मनुष्य के लिए परलोक तो क्या, यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं होता. (४.३८, ५.०६ भी देखें.) (४.३१)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

वेदों में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है. उन सब यज्ञों को तुम (शरीर, मन और इन्द्रियों की) क्रिया द्वारा सम्पन्न होनेवाले जानो. इस प्रकार जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे. (३.१४ भी देखें.) (४.३२)

ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप अर्जुन, ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, क्योंकि, हे पार्थ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही सारे कर्मों का लक्ष्य अर्थात् पराकाष्ठा है. (४.३३)

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस तत्त्वज्ञान को तुम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें आदर, जिज्ञासा तथा सेवा से प्रसन्न करके सीखो. तत्त्वदर्शी ज्ञानी मनुष्य तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे. (४.३४)

सत्य को पा लेनेवाले मनीषियों का सत्संग अत्यन्त लाभकारी है. मात्र धर्मग्रन्थ पढ़ने, दान देने और साधना से प्रभुप्राप्ति सम्भव नहीं. प्रभुप्राप्ति में समर्थ आत्मा दूसरे आत्मा को जाग्रत् कर सकता है और ज्योतिष करने में समर्थ है (रामदास). किन्तु प्रभुकृपा के बिना कोई गुरु आत्मज्ञान का गोपनीय गुरु नहीं दे सकता. वेदों की उक्ति है— जो मार्ग जानता है वह दूसरे पथिक का — जो मार्ग नहीं जानता, पर पूछता है — मार्ग निर्देश करता है (ऋ.वे. ६.७०.०६). सत्यबोध मूलतः व्यक्तिगत प्रक्रिया है (कृष्णमूर्ति). अपने ही प्रयासों से लोग सत्य की खोज करते हैं. इस भौतिक संसार के तूफानी जल में व्यक्ति को अपनी नौका स्वयं ही खेनी पड़ती है.

वेदों में प्रभु के किसी भी प्रकार का विक्रय का निषेध है. वेद का कथन है— हे अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी, मैं किसी भी मूल्य पर तुम्हें नहीं बेचूंगा (ऋ.वे. ८.०१.०५). गुरु का काम एक मार्गदर्शक और दाता का है, लेनेवाले का नहीं. किसी मानव को गुरु बनाने से पूर्व व्यक्ति की उस (गुरु) में पूर्ण आस्था होनी चाहिए, या आस्था पैदा करनी चाहिए. अपने मन में गुरु के मानवगत अवगुणों को नहीं लाना चाहिए. गुरु के ज्ञान के मोतियों को ग्रहण कर सीपियों को फैंक देना चाहिए. यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो स्मरण रहे कि गुरु शब्द का यह भी अर्थ है— ज्ञान की ज्योति, जो अज्ञान और मोह का अंधकार दूर करती है. और जब व्यक्ति का मन सच्ची साधना, सेवा और समर्पण से शुद्ध हो जाता है, तब ज्ञान की ज्योति ब्रह्म से स्वतः आती है.

गुरुओं की चार कोटियां हैं — जाली गुरु, गुरु, सदगुरु और परमगुरु. इस युग में शिक्षा-दीक्षा देने के लिए या कुछ दाम लेकर मंत्र देनेवाले अनेक जाली गुरु पैदा हो गए हैं. ये जाली गुरु मंत्र के व्यापारी हैं. ब्रह्म का सच्चा ज्ञान न देकर ये लोग अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिष्यों का धन हरण करते हैं. प्रभु ईसा ने भी कहा है— जाली गुरुओं से सावधान रहो, वे तुम्हारे सामने बाहर से भेड़ की शकल में आते हैं, किन्तु वस्तुतः वे खूंखार भेड़ियों की तरह हैं (मैत्थ्यु ७.१५). सन्त तुलसीदास जी कहते हैं: गुरु,

जो शिष्यों से धन लेता है, पर उनका अज्ञान दूर नहीं करता, नरक को जाता है (तु.रा. ७.६८.०४). गुरु वही है, जो सत् और असत् का सच्चा ज्ञान और विवेक देता है. सद्गुरु आत्मज्ञानी निष्णात पुरुष है, जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति से शिष्य को प्रभु की सतत अनुभूति देता है.

मन और अन्तःकरण के पावन हो जाने पर परमगुरु श्रीकृष्ण शिष्य के चित्त में स्वयं को प्रभासित करते हैं और उसके लिए एक गुरु या सद्गुरु भेजते हैं. एक सच्चा गुरु शिष्य से कभी भी अपने लिए या अपनी संस्था के लिए धन या शुल्क नहीं मांगता, वह पूर्णतः प्रभु पर निर्भर करता है. किन्तु गुरु के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिष्य यथाशक्ति सहायता करने को बाध्य है. ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके पिताश्री का भी मानना है कि परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पुरुष, माया, अव्यक्त, ईश्वर, प्रकृति, जीव आदि की पूर्ण शिक्षा और विवेकमय ज्ञान दिए बिना गुरु को शिष्य से कोई शुल्क ग्रहण नहीं करना चाहिए (बृह.उ. ४.०१.०२).

हम सबमें अन्तर्भूत हमारी स्वयं की आत्मा ही परमगुरु है. बाह्य गुरु हमारी आध्यात्मिक यात्रा के आरम्भिक चरण में सहायता कर सकता है. निष्काम सेवा, प्रार्थना, ध्यान, पूजा, जप, कीर्तन, मनन, आध्यात्मिक पठन आदि से शुद्ध हुआ हमारा मन दिव्य ज्ञान का श्रेष्ठ साधन और पथ-प्रदर्शक बन जाता है. (गीता ४.३८ तथा १३.२२ भी देखें.) हमारे भीतर का दैवी पुरुष ही सच्चा गुरु है और उससे सम्पर्क साधना हमें सीखना चाहिए. कहा गया है कि अपने मन से बड़ा कोई गुरु नहीं है. शुद्ध मन अध्यात्मपथ-प्रदर्शक और भीतर का दिव्य गुरु बन जाता है, जो व्यक्ति को गरु और आत्मज्ञान तक ले जाता है. यह बात इस लोकोक्ति में कही गई है कि व्यक्ति के पास, ठीक समय आने पर, गुरु स्वयं ही आ जाता है. गुरु शब्द का अर्थ विशाल भी है जिसका प्रयोग ब्रह्म, परमात्मा आदि के लिए भी किया जाता है.

आध्यात्मिक गुरु अपनी पूजा, सेवा आदि का, जो भारत में इतनी प्रचलित है, समर्थन नहीं करता. आत्मज्ञानी मनीषी कहेगा कि एक प्रभु ही सच्चा गुरु है और सब उसके शिष्य हैं. ऐसा कहा जाता है कि शिष्य को फूलों से शहद दूढ़नेवाले भौरे की तरह होना चाहिए. यदि भौरे को एक फूल से शहद नहीं मिलता, तो वह तुरन्त दूसरे फूल के पास चला जाता है और उस फूल के समीप तब तक रहता है, जब तक उसे वहां मधु मिलता है. यतीश्वरानन्द का कहना है कि मानव-गुरु की पूजा और अंध गुरुभक्ति आध्यात्मिक विकास-मार्ग का रोड़ा बन सकती है, जो गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए हानिकारक है.

यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम् एवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्य् अशेषेण द्रक्ष्यस्य् आत्मन्य् अथो मयि ॥३५॥

जिसे जानकर तुम पुनः इस प्रकार भ्रम को नहीं प्राप्त होगे; तथा, हे अर्जुन, इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को आत्मा — अर्थात् मुझ परब्रह्म परमात्मा — में देखोगे. (६.२९, ६.३०, ११.०७, ११.१३ भी देखें.) (४.३५)

सभी प्राणियों में ब्रह्म की एक ही जीवनशक्ति की ज्योति प्रतिबिम्बित होकर उन्हें प्रेरित और क्रियाशील करती है. अतः हम सभी एक दूसरे से जुड़े हैं और एक दूसरे का अभिन्न अंग हैं. ज्ञान के प्रभात में जब व्यक्ति में सर्वत्र, सबमें, एक ही आत्मा के प्रसार को देखने की क्षमता आ जाती है, तब वह परमात्मा में प्रवेश कर आत्मस्वरूप बन जाता है (गीता १८.५५).

अपि चेद् असि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सब पापियों से अधिक पाप करनेवाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को ब्रह्मज्ञानरूपी नौका द्वारा निस्सन्देह पार कर जायगा. (४.३६)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर् भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्म (के सारे बन्धनों) को भस्म कर देती है. (४.३७)

बाइबिल का भी कथन है— तुम सत्य को जानोगे और सत्य तुम्हें मुक्त कराएगा (जॉन ८.३२). ब्रह्म के सच्चे ज्ञान की अग्नि पूर्वजन्मों के सभी संचित कर्मों को, जो आवागमन का मूल है, जला देती है. वर्तमान कर्म किसी नये क्रियमाण कर्म को जन्म नहीं देता, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि समस्त कार्य प्रकृति की शक्तियों द्वारा किए जाते हैं और वह उनका कर्ता नहीं है. अतः आत्मज्ञान के उदय होने के पश्चात् ज्ञानी को मुक्ति प्राप्त करने से पहले केवल अपने प्रारब्ध कर्मों का, जो वर्तमान जन्म के लिए उत्तरदायी हैं, निश्शेष करना ही रह जाता है. नया कर्म भौतिक शरीर और मन से प्रसूत होता है, सूक्ष्म शरीर भाग्य का वाहक है और नैमित्तिक शरीर पूर्व कर्मों का कोषागार है. कर्म शरीर को जन्म देता है और शरीर से कर्म पैदा होते हैं. इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र अनन्तकाल तक चलता रहता है. सेवा या निष्कामकर्म ही इस वृत्त को भंग कर सकता है और निष्कामकर्म ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है.

हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश सब कर्म के अधीन हैं. प्रारब्ध सर्वशक्ति-सम्पन्न है. ऐसा होने से व्यक्ति को न तो क्रुद्ध होना चाहिए, न किसी को दोष देना (तु.रा. २.१७१.०१). लोगों को गुण-दोषों का ज्ञान रहता है; पर व्यक्ति की रुचि-अरुचि का चयन प्रारब्ध और संस्कार से नियमित है, क्योंकि मन और बुद्धि प्रारब्ध और संस्कार के नियंत्रण में हैं. यदि समस्त प्रयत्नों के बाद भी सफलता नहीं मिलती, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उद्यम से पूर्व ही प्रारब्ध विद्यमान है.

कर्मयोगी को स्वयं ही ज्ञान की प्राप्ति

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते ।

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है. उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने-आप प्राप्त कर लेता है. (४.३१, ५.०६ भी देखें.) (४.३८)

प्रभुभक्ति की गहन अग्नि सब कर्म जला देती है और मन तथा बुद्धि को पवित्र कर दृष्टिमान कर देती है, वैसे ही जैसे सूर्य का प्रकाश पृथ्वी को ज्योतिष करता है. जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है (भा.पु. ११.०३.४०). मन की शुद्धि होने तक व्यक्ति को यथाशक्ति निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए (देवी.भा. ७.३४.१५). सच्चा आत्मज्ञान शुद्ध मन में स्वतः ही प्रभासित हो जाता है. मुक्ति की ओर ले जाने के लिए कर्मयोग (सेवा) और ज्ञान दो पंख हैं.

श्रद्धावाँल लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावानु, साधन-परायण और जितेन्द्रिय मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है. (४.३९)

मानसिक शोक और वेदना की अग्नि को, जो मोह से पैदा होती है, आत्मज्ञान के जल से ही पूर्णतः बुझाया जा सकता है (म.भा. ३.०२.२६). ब्रह्मज्ञान के बिना सत्कर्म और सद्विचार सम्भव नहीं है.

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

विवेकहीन, श्रद्धाहीन तथा संशय करनेवाले (नास्तिक) मनुष्य का पतन होता है. संशय करनेवाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है. (४.४०)

ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

हे धनंजय अर्जुन, जिसने कर्मयोग के द्वारा समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है तथा ज्ञान और विवेक द्वारा जिसके (परमात्मा के बारे में) समस्त संशयों का विनाश हो चुका है, ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को कर्म नहीं बांधते हैं (४.४१)

तस्माद् अज्ञानसंभूतं ह्यस्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्चैनं संशयं योगम् आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम अपने मन में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी कर्मयोग में स्थित होकर अपना कर्म (अर्थात् युद्ध) करो. (४.४२)

इस प्रकार ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ पञ्चमोऽध्यायः

कर्मसंन्यासयोगः

५. कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर् योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोर् एकं तन् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों की प्रशंसा करते हैं. इन दोनों में एक, जो निश्चितरूप से कल्याणकारी हो, मेरे लिए कहिए. (५.०५ भी देखें.) (५.०१)

कर्मसंन्यास से तात्पर्य है कर्ताभाव, अधिकारभाव और कर्म में निहित स्वार्थभाव का परित्याग. यह कर्म या सांसारिक पदार्थों का त्याग नहीं है. कर्मसंन्यास का उदय ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही होता है. अतः गीता में ज्ञान, सांख्य, संन्यास और कर्मसंन्यास शब्दों का प्रयोग समानार्थ में होता है. संन्यास जीवन का ध्येय है, कर्म और ज्ञान उसकी प्राप्ति के अनिवार्य साधन हैं. सच्चा संन्यास अपने तन, मन और विचार सहित समस्त कार्य और सम्पत्ति को प्रभु की सेवा में अर्पित कर देना है.

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराव् उभौ ।

तयोस् तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याणकारक हैं, परन्तु दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है. (५.०२)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है, वैसे मनुष्य को सदा संन्यासी ही समझना चाहिए; क्योंकि, हे महाबाहो, राग-द्वेषादि द्वन्द्वो से रहित मनुष्य सहज ही बन्धन-मुक्त हो जाता है. (५.०३)

दोनों मार्ग परमात्मा की ओर ले जाते हैं

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकम् अप्य् आस्थितः सम्यग् उभयोर् विन्दते फलम् ॥४॥

अज्ञानी लोग ही, न कि पण्डितजन, कर्मसंन्यास और कर्मयोग को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक में भी अच्छी तरह से स्थित मनुष्य दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है. (५.०४)

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैर् अपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

ज्ञानयोगियों द्वारा जो धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है. अतः जो मनुष्य कर्मसंन्यास और कर्मयोग को फलरूप में एक देखता है, वही वास्तव में देखता (अर्थात् समझता) है. (६.०१, ६.०२ भी देखें.) (५.०५)

संन्यासस् तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव (अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव का त्याग) का प्राप्त होना कठिन है. सच्चा कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त करता है. (४.३१, ४.३८ भी देखें.) (५.०६)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्न अपि न लिप्यते ॥७॥

निर्मल अन्तःकरणवाला कर्मयोगी, जिसका मन और इन्द्रियां अपने वश में हैं और जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता. (५.०७)

कर्मयोगी प्रभु के लिए काम करता है

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥८॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्वज्ञान को जाननेवाला कर्मयोगी ऐसा समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ. देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, देता, लेता, बोलता तथा आंखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी वह ऐसा जानता है कि समस्त

इन्द्रियां ही अपने-अपने विषयों में विचरण कर रही हैं. (३.२७, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (५.०८-०९)

यदि यह आभास कर कि सब अच्छे-बुरे कर्म प्रभु की सत्ता से ही किए जाते हैं, इन्द्रियों की क्रियाओं का शुद्धीकरण कर लिया गया है, तो इन्द्रियों के दमन की आवश्यकता नहीं है.

ब्रह्मण्य् आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)

कर्मयोगी स्वार्थभाव से कुछ भी नहीं करता, अतः वह पाप का भागी नहीं होता. निःस्वार्थ सेवा सदा निष्पाप होती है. स्वार्थ पाप की जड़ है.

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैर इन्द्रियैर् अपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कर्मयोगीजन शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं. (५.११)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर (अर्थात् परमेश्वर को अर्पणकर) परम शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम मनुष्य कर्मफल में आसक्ति के कारण बंध जाता है. (५.१२)

आत्मज्ञान का मार्ग

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥

कर्मयोगी सभी कर्मों (के फल) को सर्वथा त्यागकर न कोई कर्म करता हुआ और न करवाता हुआ नौ द्वारवाले शरीररूपी घर में सुख से रहता है. (५.१३)

मानव-शरीर को नौ द्वारों का नगर कहा गया है (कठ.उ. ५.०१ तथा श्वे.उ. ३.१८). ये नौ प्रवेश द्वार हैं— दो आंखों के, दो कानों के, दो नासिका के, एक मुख द्वार, एक मल द्वार तथा मूत्र मार्ग. वह प्रभु, जो जीव रूप में इस पुरी में रहता है, पुरुष कहलाता है. पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों और विश्व का स्वामी भी है.

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस् तु प्रवर्तते ॥१४॥

ईश्वर प्राणियों में कर्तापन, कर्म तथा कर्मफल के संयोग को वास्तव में नहीं रचता है. प्रकृति मां ही (अपने गुणों से) सब कुछ करवाती है. (५.१४)

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसी के पाप और पुण्य कर्म का भागी नहीं होता. अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक दिए जाने के कारण ही सब जीव भ्रमित होते हैं (तथा पाप कर्म करते हैं). (५.१५)

ईश्वर न किसी को दण्ड देता है, न पुरस्कार. हमी अपने विवेक और इच्छा-शक्ति के सदुपयोग या दुरुपयोग से स्वयं को पुरस्कृत या दण्डित करते हैं.

ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः ।

तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका अज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका तत्त्वज्ञान सूर्य की तरह सच्चिदानन्द परमात्मा को प्रकाशित कर देता है. (५.१६)

तद्बुद्धयस् तदात्मानस् तन्निष्ठासु तत्परायणाः ।

गच्छन्त्य् अपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनका मन और जिनकी बुद्धि परमात्मा में स्थित है, परमात्मा में जिनकी निष्ठा है, ब्रह्म ही जिनका परम लक्ष्य है, ऐसे मनुष्य ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (५.१७)

आत्मज्ञानी के अन्य लक्षण

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ज्ञानीजन (सबमें परमात्मा को ही देखने के कारण) विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि सब को समभाव से देखते हैं. (६.२९ भी देखें.)

(५.१८)

जिस प्रकार कोई मनुष्य भुजा या टांग आदि शरीर के अवयवों को शरीर से भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार आत्मज्ञ व्यक्ति किसी प्राणी को ब्रह्म से भिन्न नहीं देखता (भा.पु. ४.०७.५३). इस तात्त्विक ज्ञान के बाद व्यक्ति हर वस्तु को श्रद्धा, करुणा और दया की दृष्टिसे देखता है, क्योंकि हर वस्तु ब्रह्म के ब्रह्माण्ड-स्वरूप का अभिन्न अंग है.

इहैव तैर् जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ऐसे समदर्शी मनुष्यों ने इसी जीवन में संसार के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर लिया है. वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है. (१८.५५ तथा छा.उ. २.२३.०१ भी देखें.) (५.१९)

मनमें सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान् की सबसे बड़ी पूजा है (भा.पु. ७.०८.१०). जिनमें समता का भाव नहीं है, वे भेदभाव करते हैं. इसलिए अन्याय और भेदभाव के शिकार व्यक्तियों को भेदभाव करनेवालों को दयनीय मानना चाहिए; और उत्तेजित होने, क्रुद्ध होने या बदला लेने के स्थान पर प्रभु से उनके हृदय-परिवर्तन की प्रार्थना करनी चाहिए.

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिर् असंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो मनुष्य प्रिय को प्राप्तकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्तकर उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशयरहित और ब्रह्म को जाननेवाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा में नित्य स्थित रहता है. (५.२०)

बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षयम् अश्नुते ॥२१॥

ऐसा ब्रह्मयुक्त व्यक्तिअपने अन्तःकरण में ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर इन्द्रियों के विषयों से अनासक्त हो जाता है और अविनाशी परम सुख का अनुभव करता है. (५.२१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सुखों का आदि और अन्त होता है तथा वे (अन्त में) दुःख के कारण होते हैं। इसलिए, हे कौन्तेय, बुद्धिमान् मनुष्य उनमें आसक्त नहीं होते। (१८.३८ भी देखें।) (५.२२)

सुधीजन ऐन्द्रिय सुखों की निस्सारता पर सतत विचार करते हैं, इसीलिए वे ऐन्द्रिय कामनाओं के शिकार नहीं होते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य मृत्यु से पहले काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही योगी है और वही सुखी है। (५.२३)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस् तथान्तर् ज्योतिर् एव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो योगी आत्मा में ही सुख पाता है, आत्मा में ही रमण करता है तथा आत्मज्ञानी है, वह ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है। (५.२४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सभी संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो चुके हैं, जिनका मन वश में है और जो सभी प्राणियों के हित में रत रहते हैं, ऐसे ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (५.२५)

तीसरा मार्ग— भक्तिमय ध्यानयोग

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले तथा आत्मज्ञानी यतियों को आसानी से ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। (५.२६)

स्पर्शान् कृत्वा बहिर् बाह्यांश् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर् मुनिर् मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

विषयों का चिन्तन न करता हुआ, नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के बीच में स्थित करके, नासिका में विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि वश में हैं, जो मोक्ष परायण है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है। (५.२७-२८)

सूक्ष्म नाड़ियां मनुष्य के शरीर में ब्रह्म की शक्ति प्रवाहित होने के सूक्ष्म मार्ग हैं। जब मेरुरज्जु (Astral spinal chord) में इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों के माध्यम से प्रवाहित ब्रह्माण्ड-संचरण धाराएं — महामुद्रा क्रिया या ऐसी अन्य यौगिक प्रक्रियाओं के अभ्यास से — सुषुम्ना नाड़ी के खुलने पर अलग हो जाती हैं, तब श्वास नासिका के दोनों नथुनों से समान भार से निकलते हैं, मन प्रशान्त हो जाता है और समाधि की ओर ले जानेवाले गहन ध्यान की भूमि तैयार हो जाती है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ॥२९॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और समस्त प्राणियों का मित्र जानकर शान्ति को प्राप्त करता है. (५.२९)

इस प्रकार कर्मसंन्यासयोग नामक पांचवा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ षष्ठोऽध्यायः

आत्मसंयमयोगः

६. ध्यानयोग

कर्मयोगी भी संन्यासी है

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर् न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— जो मनुष्य केवल कर्मफल (के भोग) के लिए ही कर्म नहीं करता, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, केवल अग्नि का त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं होता तथा क्रियाओं का त्यागनेवाला योगी नहीं होता. (६.०१)

यं संन्यासम् इति प्राहुर् योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्य असंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव, जिसे संन्यास कहते हैं, उसीको तुम कर्मयोग समझो, क्योंकि स्वार्थ के त्याग के बिना मनुष्य कर्मयोगी नहीं हो सकता. (५.०१, ५.०५, ६.०१, १८.०२ भी देखें.) (६.०२)

योग और योगी की परिभाषा

आरुरुक्षोर् मुनेर् योगं कर्म कारणम् उच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणम् उच्यते ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्व अनुषज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्य तदोच्यते ॥४॥

निष्काम कर्मयोग को समत्वयोग की प्राप्ति का साधन कहा गया है और योगारूढ साधक के लिए समत्व (अर्थात् मानसिक संतुलन, आत्मसंयम) ही ईश्वरप्राप्ति का साधन है. जब मनुष्य इन्द्रियों के भोगों में तथा कर्मफल में आसक्त नहीं रहता, तब सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करनेवाले (संतुलित) व्यक्ति को योगी कहते हैं. (६.०३-०४)

योगसिद्धि तभी पूर्णता को प्राप्त होती है, जब व्यक्ति अपने समस्त कर्म परमप्रभु श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए करता है (योगी चिन्मभाई). निःस्वार्थ सेवा मन की शान्ति को जन्म देती है. जब व्यक्ति मात्र कर्तव्य-भाव से — किसी स्वार्थ के बिना — कर्म करता है, तब मन असफलता के भय से विचलित नहीं होता है, वरन् शान्त रहता है और व्यक्ति ध्यान के माध्यम से योगसिद्धि पा लेता है. मन की समचित्तता, जो आत्मज्ञान के लिए अनिवार्य है, संकल्प (अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों और कामनाओं) के परित्याग के बाद ही आती है. कामनाविहीन मन शान्त हो जाता है. अतः ध्यानयोग में सफलता पाने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य है. ध्यान की परिपूर्णता का परिणाम होता है इन्द्रियों का वशीकरण, जिससे चित्त शान्त होता है और शान्त चित्त प्रभु प्राप्ति की ओर ले जाता है.

मन श्रेष्ठतम मित्र, और सबसे बड़ा शत्रु भी

उद्धरेद् आत्मनात्मानं नात्मानम् अवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर आत्मैव रिपुर् आत्मनः ॥५॥

बन्धुर आत्मात्मनस् तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस् तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

मनुष्य अपने मन और बुद्धि द्वारा अपना उद्धार करे तथा अपना पतन न करे, क्योंकि मन ही मनुष्य का मित्र भी है और मन ही मनुष्य का शत्रु भी। जिसने अपने मन और इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा जीत लिया है, उसके लिए मन उसका मित्र होता है, परन्तु जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं होतीं, उसके लिए मन शत्रु के समान आचरण करता है।

(६.०५-०६)

इस संसार में अनियंत्रित कुमार्गगामी मन को छोड़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है (भा.पु. ७.०८.१०). अतः व्यक्ति को चाहिए कि सबसे पहले दृढ़-प्रतिज्ञ होकर प्रयत्नपूर्वक ध्यान के सतत अभ्यास से इस शत्रु पर विजय प्राप्त करे, उस पर नियंत्रण करने का प्रयास करे. समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का ध्येय मन पर विजय पाना ही है. गुरु नानकदेव का कहना है— मन को वश में करो, संसार तुम्हारे वश में होगा. पतंजलि ऋषि ने चित्त की विचार-तरंगों पर नियंत्रण को योग कहा है (प.यो.सू. १.०२). मन और इन्द्रियों पर दृढ़ नियंत्रण ही योग कहलाता है (कठ.उ. ६.११). मन और इन्द्रियों के नियंत्रण को ही तप और योग कहते हैं (म.भा. ३.२०६.५३). योगी का मन उसके वश में रहता है, योगी मन के वश में नहीं होता. चंचल मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर प्रयासहीन नियंत्रण और मन को प्रभु की ओर ले जाना ही ध्यान है. योगी भजन कहते हैं कि एक लक्ष्य विश्रान्त मन सर्वशक्तिमान् और रचनात्मक मन है, वह सब कुछ कर सकता है.

जीव के लिए मन ही बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण है. विषयों में आसक्त होने से मन बन्धन का हेतु होता है और वही मन परमप्रभु श्रीकृष्ण में अनुरक्त होने पर मोक्ष का कारण बन जाता है (भा.पु. ३.२५.१५). अकेला मन ही मानव की मुक्ति और बन्धन दोनों का कारण है. इन्द्रियों द्वारा नियंत्रित होकर मन बंधन का कारण बन जाता है और बुद्धि द्वारा नियंत्रित होकर मुक्ति का (वि.पु. ६.०७.२८). किसी भी साधना के लिए मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण पहली अनिवार्य शर्त है. जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का स्वामी नहीं बन सका है, वह आत्मज्ञान के लक्ष्य की ओर प्रगति नहीं कर सकता. अतः मन की क्रियाओं पर नियंत्रण करने के बाद व्यक्ति को ऐन्द्रिय सुखों से मन हटाकर भगवान् कृष्ण पर केन्द्रित करना चाहिए. जब मन ऐन्द्रिय सुखों से विरत होकर श्रीकृष्ण में लीन होता है, तब ऐन्द्रिय आवेग प्रभावशून्य हो जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियां अपनी शक्ति मन से ही पाती हैं. मन अन्य पांचों इन्द्रियों का शासक है. जो मन का स्वामी है, वह सब इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है.

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जिसने मन को अपने वश में कर लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त रहता है, ऐसे जितेन्द्रिय मनुष्य का मन सदा परमात्मा में स्थित रहता है.

(६.०७)

मन के शान्त और सब कामनाओं से मुक्त होने पर ही व्यक्ति को प्रभु की अनुभूति हो सकती है. जो मन के स्वामी हैं, वे ही ज्ञान और आनन्द की आध्यात्मिक निधि पाते हैं.

मन-मानस के पूर्णतः प्रशान्त होने पर ही आत्मज्ञान सम्भव है, वैसे ही जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब झील में तभी दिखाई देता है, जब जल शान्त हो. (गीता २.७० भी देखें.)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ब्रह्मज्ञान और विवेक से परिपूर्ण, जितेन्द्रिय और समत्व बुद्धिवाला मनुष्य, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, परमात्मा से युक्त अर्थात् योगी कहलाता है. (६.०८)

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्व् अपि च पापेषु समबुद्धिर् विशिष्यते ॥९॥

जो मनुष्य सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धियों, धर्मात्माओं और पापियों में भी समान भाव रखता है, वह श्रेष्ठ समझा जाता है. (६.०९)

ध्यान के तरीके

योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर् अपरिग्रहः ॥१०॥

आशारहित और स्वामित्वरहित साधक अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके, एकान्त स्थान में अकेला बैठकर, मन को निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगाए. (६.१०)

ध्यान-स्थली में हिमालय की गन्ध-शब्द-प्रकाश-हीन गुफा का गम्भीर, प्रशान्त, एकान्त और आध्यात्मिक वातावरण होना चाहिए. अलौकिक देव-प्रस्तर-प्रतिमाओं से भरे विशाल भवन ही काफी नहीं हैं. विशाल भवन आदि के लिए आध्यात्मिकता को बलिदान करना पड़ता है और वे केवल धार्मिक व्यापार में ही सहायक हैं.

पतंजलि के योगसूत्रों के अनुसार (प.यो.सू. २.२६) ध्यानयोग के आठ सोपान हैं—

(१) यम. (२) नियम. (३) आसन. (४) प्राणायाम. (५) प्रत्याहार. (६) धारणा. (७) ध्यान. और (८) समाधि.

व्यक्ति को ध्यानयोग के विकास के लिए समुचित निरीक्षण में एक-एक करके इन आठ सोपानों पर चलना चाहिए. मन के आवश्यक शुद्धीकरण और भावनाओं तथा कामनाओं का यम और नियम (श्लोक १६.२३ देखिए) द्वारा परिष्कार के बिना प्राणायाम और ध्यान विधि का प्रयोग मस्तिष्क की घातक विक्षिप्त अवस्था को जन्म दे सकता है. महर्षि पतंजलि का कहना है— ध्यानयोग के लिए आसन स्थिर, सहज और व्यक्ति के भौतिक शरीर के लिए आरामदायक होना चाहिए (प.यो.सू. २.४६).

प्राणायाम फेफड़ों में जबर्दस्ती — और प्रायः हानिकारक — श्वास का रोकना नहीं है, जैसा कि प्रायः गुलती से समझा जाता है तथा भूल से किया जाता है. पतंजलि ने प्राणायाम की परिभाषा की है— श्वास-प्रक्रिया-प्रेरक जीव-आवेगों अथवा सूक्ष्म जीवन-शक्तियों, अर्थात् प्राण पर नियंत्रण करना (प.यो.सू. २.४६). यह हमारी श्वासों को नियंत्रित करनेवाले प्रेरक यंत्र और ऐन्द्रिय नसों को सक्रिय बनानेवाले आवेगों को, जिनके ऊपर साधारणतः हमारा कोई नियंत्रण नहीं है, हठयोग की मानक विधियों — आसन, प्राणायाम, बन्ध और मुद्राओं — का प्रयोग करके नियंत्रित करने अथवा मन्द करने की क्रमिक प्रक्रिया है. जब शरीर अन्तःकरण में प्रवाहित सर्वविद्यमान ऊर्जा-प्रवाह के विशाल भंडार द्वारा अत्यन्त ऊर्जाशील हो जाता है, तब श्वास लेने की आवश्यकता समाप्त या कम हो जाती है और योगी आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम सोपान, समाधि अवस्था, को पा लेता है. उपनिषद् का कहना है— कोई भी प्राणी केवल श्वास-वायु पर ही जीवित नहीं रहता.

प्राणी किसी और वस्तु पर निर्भर रहते हैं (कठ.उ. ५.०५). ईसा ने भी कहा है: कोई भी मात्र रोटी (खाना, पानी, वायु) से जीवित नहीं रहेगा, वरन् जिएगा प्रभु के मुख से निकले हर शब्द (अथवा ब्रह्म-ऊर्जा) से (मैथ्यु ४.०४). श्वास-रज्जु जीव को शरीर और मन से ग्रंथित करता है. समाधि की श्वासहीन अवस्था में योगी जीव को इस ग्रंथि से मुक्त करके परमपिता परमात्मा से बांधता है.

प्रत्याहार अथवा इन्द्रिय-निग्रह योगी के ध्येय की प्राप्ति में प्रमुख बाधा है. जब इन्द्रिय-निग्रह कर लिया जाता है, तब धारणा (एकाग्रता), ध्यान और समाधि में निष्णात होना बहुत सुगम हो जाता है. मन को प्रशिक्षित बुद्धि का अनुसरण करने के लिये नियंत्रित किया जाना चाहिए; और श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, घ्राण आदि स्थूल ऐन्द्रियक पदार्थों की ओर आकर्षित होने से रोकना चाहिए. मन स्वभावतः अस्थिर है, चंचल है. प्रकृत श्वास-प्रवाह के अन्तर्बहिर्गमन का निरीक्षण करना तथा एकान्तर श्वास (Alternate Breathing) लेना मन को स्थिर बनाने में सहायक होता है.

इन्द्रिय-निग्रह की दो सर्वसामान्य विधियाँ हैं— (१) अपनी भौहों के बीच के बिन्दु पर ध्यान पूर्णतः केन्द्रित करना और वहाँ एक कल्पित श्वेत आवर्तित प्रकाश के क्षेत्र का विस्तृत होते हुए निरीक्षण करना. (२) दीर्घकाल तक पूर्ण सम्भावित वेग से मन ही मन मंत्र जपना और उस मंत्र-ध्वनि में तब तक सम्पूर्णतः लीन हो जाना, जब तक कि पास में रखी घड़ी की टिक-टिक ध्वनि का सुनना बन्द न हो जाये. मन की अस्थिरता के घटने और बढ़ने साथ ही मन ही मन जपे मंत्र का वेग और आवाज भी घटते और बढ़ते रहना चाहिए.

दैवी प्रतिमा के किसी विशेष भाग पर, मंत्र-ध्वनि पर, श्वास-गति पर, शरीर के विभिन्न ऊर्जा-चक्रों पर, भौहों के मध्य भाग पर, नासिका के कोण बिन्दु पर अथवा वक्षस्थल केन्द्र में स्थित एक कल्पित रोहित कमल पर ध्यान केन्द्रित करने से मन शान्त हो जाता है और भ्रमित होने से रुक जाता है.

योगी को भगवान् कृष्ण के अलौकिक रूप पर तब तक ध्यानावस्थित रहना चाहिए, जब तक कि वह रूप मन में सतत विद्यमान नहीं हो जाता. पूर्णतः केन्द्रित अल्पकालीन ध्यान विकेन्द्रित दीर्घकालीन ध्यान से अच्छा है. किसी एक ध्यान-पात्र पर मन को १२ सैकिन्ड, ढाई मिनट तथा आधा घन्टा तक केन्द्रित रखना क्रमशः धारणा, ध्यान और समाधि माना जाता है. ध्यान और समाधि धारणा से उत्पन्न स्वतः फल है. जब मन का ध्यान ध्यान-वस्तु से इधर-उधर भटकना बन्द हो जाता है, तब ध्यानावस्था होती है.

समाधि की निम्न अवस्था — सविकल्प समाधि — में मन दैवी प्रतिमा के मुख, चरण आदि किसी एक विशेष भाग पर इतना केन्द्रित हो जाता है कि वह सब कुछ भूल जाता है. यह जाग्रत् अवस्था के स्वप्न-जैसा है, जिसमें व्यक्ति अपने मन, विचार और वातावरण से अवगत रहता है. समाधि की उच्चतम अवस्था — निर्विकल्प समाधि — में शरीर शान्त और निःस्पन्द हो जाता है और मन को परम सत्य के विभिन्न पहलुओं की अनुभूति होती है. मन की व्यक्तिगत अस्मिता का लोप हो जाता है और वह ब्रह्म में लीन होकर एक हो जाता है.

निर्विकल्प समाधि मन की उच्चतम परम चैतन्य अवस्था है. मन की इस अवस्था में साधारण मानवीय चैतन्य ब्रह्म-चैतन्य से जुड़ जाता है या उसे आत्मसात् कर लेता है. मानव का विचार-संवेग श्वास-विहीन अवस्था में पहुँच जाता है तथा शान्ति और परमानन्द को छोड़कर कुछ भी अनुभव नहीं करता. निर्विकल्प अवस्था में सिर की चोटी पर सहस्रार-

चक्र खुल जाता है तथा मन असीम में लीन हो जाता है। उस समय कोई मन या विचार नहीं रहता; केवल सत्, चित् और आनन्द की अनुभूति। इस अवस्था को प्राप्त हुए व्यक्ति को परमहंस की संज्ञा दी जाती है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् आसनम् आत्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

साधक स्वच्छ भूमि के ऊपर क्रमशः कुश, मृगखाला और वस्त्र बिछे हुए अपने आसन पर जो न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा हो बैठकर मन को परमात्मा में एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ध्यानयोग का अभ्यास करे। (६.११-१२)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन् अचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर् ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अपने शरीर, गर्दन और सिर को अचल और सीधा रखकर, कहीं दूसरी ओर न देखते हुए, अपनी आंख और ध्यान को नासिका के अग्र-भाग पर जमाकर, ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित, भयमुक्त तथा शान्त होकर, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर, मुझमें ध्यान लगाए। (४.२९, ५.२७, ८.१०, ८.१२ भी देखें।) (६.१३-१४)

परमहंस हरिहरानन्द गिरि जी का सुझाव है कि भौहों के बीच में चार इंच गहरे पैठते हुए पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary gland) के निकट एकाग्रचित्त होकर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। बाइबिल का कथन है— यदि तुम्हारी आंखें केन्द्रित हों, तो सारा शरीर ज्योतिर्मय होगा (मैत्थ्यु ६.२२)। कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए ऋषिकेश के स्वामी शिवानन्द का सुझाव है क्रियायोग की एक मुद्रा — नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करना — अपनाने का। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करने से आंखें अभ्यस्त और अभिमुख हो जाएंगी तथा नासिका के दोनों किनारे दिखने लगेंगे। नासिकाग्र पर दृष्टि गड़ाते हुए नथुनों से प्रवाहित होती श्वास की गति पर ध्यान केन्द्रित हो। दस मिनट के बाद आंखें बन्द करके भौहों के बीच में एक काले कल्पित बिन्दु को देखें। यदि कोई प्रकाश दिखे, तो उसपर ध्यान केन्द्रित करें, क्योंकि यह प्रकाश समस्त अनुभूति को आत्मसात् करके योग शास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार समाधि की ओर ले जा सकता है। “नासिकाग्रम्” का अर्थ नाक के छेद के सामने का भाग भी लिया जा सकता है। नौसिखिया को भौहों के मध्यस्थल पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जैसा कि श्लोक ५.२७ में कहा गया है, या श्लोक ८.१२ में इंगित वक्ष-केन्द्र पर। सद्गुरु की सहायता आवश्यक हो सकती है।

मन को प्रशान्त करने और प्रसुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। सूक्ष्म शरीर की शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य और कुछ प्राणायाम आवश्यक हैं। जैसे स्थूल काया के पोषण के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर का पोषण शुक्र्रीय और अण्डाशयी ऊर्जा से होता है। शारदा मां ने अपने शिष्यों को विपरीत योनिवालों से घनिष्ठ न होने की चेतावनी दी है, भले ही उस रूप में स्वयं भगवान् भी क्यों न आएँ। पश्चिम में आध्यात्मिक जीवन में ब्रह्मचर्य के महत्व की उपेक्षा की गई है, क्योंकि अधिकतर लोगों के लिए ब्रह्मचर्य सरल काम नहीं है। यदि ब्रह्मचर्य का आचरण सम्भव नहीं है, तो व्यक्ति को आध्यात्मिक यात्रा में सफलता पाने के लिए उपयुक्त जीवन-साथी

चुन लेना चाहिए। शिष्यों पर जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य को थोपना बहुत घातक है। शास्त्र का कथन है— जिस प्रकार दुर्ग की प्राचीरों से सुरक्षित राजा अविजेय शत्रु पर भी विजय पा लेता है, वैसे ही जो लोग मन और इन्द्रियों पर विजय पाना चाहते हैं, उन्हें गृहस्थ जीवन जीकर मन और इन्द्रियों को वश में करना चाहिए (भा.पु. ५.०१.१८)।

यौनसंवेग का शुद्धीकरण बोधि से पहले आता है (अथ.वे. ११.०५.०५)। अपने विषयभोग में सम्मोहित कोई एक ही इन्द्रिय बुद्धि को खोखला कर सकता है, जैसे कि जलपात्र में हुआ एक ही छेद उसे जल-शून्य कर सकता है (म.स्मृ. २.६६)। विषयों में इन्द्रियों को रत करने से व्यक्ति पाप का भागी होता है और इन्द्रियों को नियंत्रण में लाने से सिद्धि पाता है (म.स्मृ. २.६३)। प्रजनक ऊर्जा की जीवनशक्ति का रूपान्तरण योग की ओर ले जाता है। समस्त मानव-शरीरों में प्रभु को विद्यमान देखने और मन ही मन उन्हें नमन करने से व्यक्ति सम्भोग से ऊपर उठ सकता है।

युञ्जन्न एवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति ॥१५॥

इस तरह सदा मन को परमात्मा में ध्यान लगाने का अभ्यास कराता हुआ संयमित मनवाला योगी परम निर्वाणरूपी शान्ति (अर्थात् मुक्ति) प्राप्तकर मेरे पास आता है। (६.१५)

नात्यश्नतस् तु योगोऽस्ति न चैकान्तम् अनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु हे अर्जुन, यह योग उस मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता, जो अधिक खानेवाला है या बिल्कुल न खानेवाला है तथा जो अधिक सोनेवाला है या सदा जागनेवाला है। (६.१६)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

समस्त दुःखों का नाश करनेवाला यह योग नियमित आहार और विहार, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा तथा यथायोग्य सोने और जागनेवाले को ही सिद्ध होता है। (६.१७)

गीता की शिक्षा हर हालत में जीवन के सभी क्षेत्रों में अति का त्याग करने की है। गीता के इस संतुलित संयम की अभ्यर्थना भगवान् बुद्ध ने भी की है, जिन्होंने इसको मज्झिम निकाय, मध्यमार्ग, सत्यमार्ग और आर्षमार्ग कहा है। व्यक्ति को अनियंत्रित कामनाओं में लीन होने तथा उसके विपरीत शरीर और मन को यातना देनेवाले योगानुशासन दोनों ही पराकाष्ठाओं से बचना चाहिए।

यदा विनियतं चित्तम् आत्मन्य् एवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्य् उच्यते तदा ॥१८॥

जब पूर्णरूप से वश में किया हुआ चित्त समस्त कामनाओं से रहित होकर परमात्मा में ही भलीभांति स्थित हो जाता है, तब मनुष्य योगी कहलाता है। (६.१८)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगम् आत्मनः ॥१९॥

जिस तरह वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता; परमात्मा में लगे हुए योगी के समाहित चित्त की वैसी ही उपमा दी गई है। (६.१९)

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ॥२०॥

जब ध्यानयोग के अभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है, तब साधक परमात्मा को (ध्यान से शुद्ध हुए मन और) बुद्धि द्वारा देखकर परमात्मा में ही संतुष्ट रहता है. (६.२०)

आत्मा सब प्राणियों में विद्यमान है, वैसे ही जैसे अग्नि सब लकड़ियों में. संघर्षण लकड़ियों में विद्यमान अग्नि को आंखों से दर्शनीय बनाता है, वैसे ही ध्यानयोग के द्वारा शरीर में बसे आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है (म.भा. १२.२१०.४२). ब्रह्मज्ञान के लिए मन की समाधिस्थ अवस्था आवश्यक है. यह समाधिस्थ मनोस्थिति, जो देश और काल से सीमित नहीं है, सबको लभ्य है.

असीम की अनुभूति तर्क से सम्भव नहीं. अनादि परम सत्ता की प्रकृति के ज्ञान में तर्क शक्तिहीन है. तर्कशीलता नहीं, अन्तरानुभूति सर्वोच्च आत्मशक्ति है. ज्ञान की सम्पूर्ण ग्राह्यता आत्मा से आती है, प्रमित इन्द्रियों या तर्क से नहीं. आत्मा का दर्शन निर्विकल्प समाधि की अन्तरानुभूति (अन्तर्ज्ञान, Intuition) से ही सम्भव है, अन्य किसी साधन से नहीं. श्री योगानन्द जी कहते हैं: अनन्त ज्ञान के सागर को समाहित करने के लिए ध्यानयोग अन्तरानुभूति के पात्र को विस्तृत करता है.

सुखम् आत्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

योगी इन्द्रियों से परे, बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख का अनुभव करता है; जिसे पाकर वह परमात्मा से कभी दूर नहीं होता. (कठ.उ. ३.१२ भी देखें.) (६.२१)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

परमात्मा की प्राप्ति के बाद साधक उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता. इस अवस्था में स्थित योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता. (६.२२)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःख के संयोग से वियोग ही योग कहलाता है, जिसे जानना चाहिए, तथा इस ध्यानयोग का अभ्यास उत्साह और निश्चयपूर्वक करना चाहिए. (६.२३)

सुदृढ़ विश्वास के साथ दीर्घकाल तक किए गए ध्यान के अनवरत कष्टसाध्य अभ्यास के बाद ही योगसिद्धि होती है (प.यो.सू. १.१४)

संकल्पप्रभवान् कामांस् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैर् उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिद् अपि चिन्तयेत् ॥२५॥

सम्पूर्ण सकाम कर्मों का परित्यागकर, बुद्धि द्वारा सभी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करके, अन्य कुछ भी चिन्तन न करता हुआ, धीरे-धीरे अभ्यस्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में लगाकर साधक शान्ति प्राप्त करता है. (६.२४-२५)

आध्यात्मिक साधना की सहायता से जब मन अहं और ममत्व के भाव से उत्पन्न काम और लोभ की अपावना से मुक्त हो जाता है, तब वह भौतिक सुख और विषाद की स्थितियों में समान रहता है (भा.पु. ३.२५.१६).

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम् अस्थिरम्।

ततस् ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यह चंचल और अस्थिर मन जिन-जिन विषयों में विचरण करे, हम मात्र दर्शकरूप से अपने आत्मा द्वारा सदा उसका प्रेक्षण करते रहें. (६.२६)

काम की दुनिया में विचरने और भटकने के लिए मन बहुत खेल खेलता है. ध्यानी व्यक्ति को — इस बात पर मनन करते हुए कि व्यक्ति शरीर नहीं, आत्मा है — अपना मन सदा ब्रह्म में लगाये रखना चाहिए. मन के विचरण को सहज भाव से देखकर, उसपर हंसते हुए, व्यक्ति को चाहिए कि वह मन का आत्मा द्वारा निरीक्षण करता रहे.

मन — ब्रह्मानुभूति के अभाव में — छलबल से इन्द्रिय-जनित भोगों के विश्व में विचरता है, भ्रमित होता है, भटकता रहता है, क्योंकि यह उसका नियतिगत स्वभाव है. मननशील ध्यानस्थ व्यक्ति को यह सोचकर कि व्यक्ति आत्मा है, शरीर नहीं, मन को सदा आत्मा में लगाना चाहिए. मन के विचरण को देखो, और उस पर हंसो तथा सहजता से उसे वापिस आत्मा के निरीक्षण में लाओ.

हमें अपने व्यक्तिगत अनुभव से पता है कि मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन है. वायु पर नियंत्रण पाने के समान मन को वश में करना एक असाध्य कार्य है. मन को केवल (ध्यान के) निष्ठापूर्वक किए गए अभ्यास और अनासक्ति से ही नियंत्रित किया जा सकता है (गीता ६.३४-३५). किन्तु अधिकतर भाष्यकारों का कहना है कि जब ध्यान के समय मन विचरना शुरू करे तब उसे वापिस आत्मा के नियंत्रण (वश) में लाना चाहिए.

आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से श्रेष्ठ माना गया है (गीता ३.४२). इस प्रकार हम आत्मा की अनुभूति का उपयोग मन को नियंत्रित करने में कर सकते हैं. परम पूज्य गुरुदेव महामहिम स्वामी विश्वास जी ने ऊपर दिए गीता के श्लोक ६.२६ की अपनी व्याख्या के आधार पर ध्यानयोग की एक सरल प्रणाली विकसित की है. इस सिद्धान्त पर आधारित (कि मन को कभी भी निरीक्षणहीन विचरने न दें) ध्यान की 'विश्वास-प्रणाली' का वर्णन नीचे किया जा रहा है:

श्लोक ६.१३ में दी गई ध्यान-मुद्रा धारण करें. किसी भी काम को आरम्भ करने से पहले अपने इष्टदेव, जिसमें व्यक्ति का विश्वास है, का स्मरण करना तथा उसकी कृपा की कामना करना चाहिए. हिन्दुओं को भगवान् गणेश का भी स्मरण करना चाहिए.

ध्यानयोग या किसी भी आध्यात्मिक अभ्यास का मूल उद्देश्य अपने को बाह्य जगत् और इसके कार्य-कलाप से बाहर निकाल कर अन्तर्यात्रा को आरम्भ करना और अन्तर्मुखी होना है. सदा याद रहे कि व्यक्ति शरीर या मन नहीं है, वरन् है आत्मा, जो शरीर-मन-समष्टि से पृथक् और श्रेष्ठ है. अपनेको शरीर-मन-समष्टि से अनासक्त करें और ध्यान के समय आत्मा को साक्षी बनाएं. बाहरी दुनिया से अपने को हटाकर अपनी दृष्टि अपनी रुचि के (पीयूष-ग्रन्थि, नाक के अग्रभाग, षष्ठ-चक्र, हृदय-केन्द्र अथवा नाभि-केन्द्र आदि) किसी भी केन्द्र पर लगाएं, जहां आप सहज अनुभव करें. अपने मन में उठनेवाले विचारों के प्रति बिना अच्छे-बुरे के निर्णय की चिन्ता किए केवल मन की क्रियाओं के साक्षी बनें. सहज-शान्त भाव से मन-रथ के पिछले भाग में बैठकर आनन्दयात्रा करें तथा विचार-लोक में मन की गति को देखते रहें. मन विचरण करेगा ही, क्योंकि यह इसकी प्रकृति है. आरम्भ में मन शान्त नहीं रहेगा. मन की गति को कम करने, उसको दबाने या नियंत्रित करने की जल्दी न करें. उसे वापिस लाकर किसी वस्तु या विचार पर केन्द्रित करने का या किसी मंत्र का जाप आदि भी न करें.

अपनेको मन से पूर्णतः अनासक्त करके मनरूपी माया की लीला देखते रहें. भूलें नहीं कि आपका काम अपनी उच्चतर सत्ता, आत्मा, के द्वारा अपनी निम्न सत्ता, मन, को

देखना है। मन की वृत्ति के प्रति आसक्त न बनें, न उनके बहाव में बह जाएं, बस केवल उसके साक्षी हों या अनुगत। गम्भीर होकर, निष्ठा के साथ किए गए अभ्यास के बाद मन अपनी गति को कम करना शुरू कर देगा, जब उसे यह आभास हो जाएगा कि उसका सतत निरीक्षण और पीछा किया जा रहा है। चित्त-वृत्ति के अन्तर्लोक के साक्षी होने की प्रक्रिया में कुछ और न जोड़ें। धीरे-धीरे आपकी एकाग्रता-शक्ति में विकास होगा, मन अन्तर्यात्रा में मित्र के रूप में आपके साथ होगा (गीता ६.०५-०६) और आपके चारों ओर आनन्द की अवस्था प्रदीप्त हो उठेगी। आप विचारों से परे निर्विकल्प समाधि के विचारशून्य लोक में प्रवेश करेंगे।

सुबह-शाम या अपनी रुचि के अन्य सुविधाजनक काल में आधे घण्टे इसका अभ्यास करें। प्रगति हमारे वश से परे अन्य अनेक तत्त्वों पर निर्भर होगी, किन्तु आप बिना टाले अभ्यास जारी रखें। ध्यान-प्रक्रिया का समापन हमेशा ओम् की उद्देलन-ध्वनि के तीन बार उच्चार से करें, और प्रभु को धन्यवाद दें।

योगी कौन?

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखम् उत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतम् अकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन शान्त है और जिसकी (काम, क्रोध, लोभ आदि) रजोगुणी प्रवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, ऐसे पापरहित ब्रह्मस्वरूप योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है। (६.२७)

युञ्जन् एवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते ॥२८॥

ऐसा पापरहित योगी अपने मन को सदा परमेश्वर में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी परम आनन्द का अनुभव करता है। (६.२८)

योगानन्द जी कहते हैं: आन्तरिक सुख के अभाव में लोग कुकर्म की ओर अभिमुख होते हैं। प्रभु में ध्यानमग्न होना हमें अच्छाई की ओर प्रेरित करता है।

सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

योगयुक्त मनुष्य सब में सर्वव्यापी परमात्मा को तथा परमात्मा में सब को देखने के कारण समस्त प्राणियों को एकभाव से देखता है। (४.३५, ५.१८ भी देखें।) (६.२९)

हर प्राणी में आत्मा की एकता का दर्शन करना श्रेष्ठतम योगसिद्धि है। ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं— पत्नी अपने पति से अपने या पति के सन्तोष के लिए प्यार नहीं करती। वह अपने पति से इसलिए प्यार करती है कि वह अपनी आत्मा और पति की आत्मा के एक होने की अनुभूति करती है। वह अपने पति में समाहित हो जाती है और उसके साथ एक हो जाती है (बृह.उ. २.०४.०५)। वैदिक विवाह की नींव का आधार आत्म-संस्कृति की यही उदात्त और अदृष्ट शिला है, जो भग्न नहीं हो सकती। समस्त सम्बन्धों के आध्यात्मिक आधार की सुदृढ़ समझ के बिना किसी भी सार्थक मानवीय सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास वैसा ही है, जैसा कि किसी वृक्ष की जड़ को सींचने की जगह उसकी पत्तियों को पानी देना।

जब व्यक्ति सब प्राणियों में अपनी उसी आत्मा को देखता है और उसी आत्मा में सब प्राणियों को, तब वह किसी से घृणा नहीं करता, न किसी को हानि पहुंचाता है। (ईशा.उ. ०६)। शाश्वत शान्ति उन्हें ही प्राप्त होती है, जो हर किसी में आत्मा के रूप में प्रभु को निवास करते देखते हैं। (कठ.उ. ५.१३)। व्यक्ति को सभी — शत्रुओं सहित — से

प्रेम करना चाहिए, क्योंकि सब अपनी ही आत्मा के रूप हैं। “अपने शत्रु से प्यार करो और प्रार्थना करो उनके लिए, जो तुम्हें यातना देते हैं” यह केवल बाइबिल की ही उदात्ततम शिक्षा नहीं है, वरन् प्रभु की ओर ले जानेवाले समस्त मार्गों का मूल विचार है। जब किसी को इस ज्ञान की अनुभूति हो जाती है कि उसकी अपनी ही आत्मा सब कुछ हो गई है, तब व्यक्ति किससे घृणा करेगा, किसको दण्ड देगा? जीभ को काटनेवाले अपने दांतों को कोई नहीं तोड़ता। जब व्यक्ति समस्त विश्व में निवास करते अपने प्रभु को छोड़कर किसी को नहीं देखता है, तब वह किससे लड़ेगा? हमें कांटों से भी प्यार करना सीखना चाहिए।

जब कोई सबमें प्रभु को ही देखता है और प्रभु में सबको, तब वह सब जगह, सब समय, प्रभु को देखता है। इस बात को पूर्णतः समझ लेना तथा ब्रह्म और जीव के एक ही होने की अनुभूति करना सर्वोच्च प्राप्ति और मानवीय जन्म का एकमात्र लक्ष्य है (भा.पु. ६.१६.६३)। अपने आध्यात्मिक विकास की पूर्णता में व्यक्ति पाता है कि जो प्रभु उसके अपने हृदय में निवास करता है, वही अन्य सब — अमीर, गरीब, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, यातनाग्रस्त, आततायी, सन्त, पापी आदि — के हृदयों में भी रहता है। अतः किसी भी व्यक्ति से घृणा करना उसी प्रभु से घृणा करना है। इस बात का अनुभव कर लेना व्यक्ति को पूर्णतः विनम्र सन्त बनाता है। जिस व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाती है कि परमात्मा सब जगह विद्यमान है और वह प्रभु उसके अनेक जन्मों में संगृहीत अपावनाओं से शून्य उसकी अपनी आत्मा को छोड़कर कोई और नहीं है, वह व्यक्ति अमरता और ब्रह्मानन्द पा लेता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मनुष्य सब जगह तथा सबमें मुझ सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा (श्रीकृष्ण) को ही देखता है और सबको मुझमें ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझ से दूर नहीं होता। (६.३०)

आत्मज्ञ व्यक्ति समस्त लोक में और अपने में भी, मुझे देखता है तथा मुझमें समस्त लोक और अपने को। जब कोई मुझे सब चीजों में उसी प्रकार विद्यमान देखता है, जिस प्रकार लकड़ी में आग को, तब वह तुरन्त मायावी भ्रम से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति मोक्ष तभी पाता है, जब वह अपने को तन, मन और प्रकृति के गुणों से भिन्न तथा मुझसे अभिन्न देखता है (भा.पु. ३.०६.३१-३३)। ज्ञानी समस्त लोक में अपनी ही आत्मा को और अपनी ही आत्मा में समस्त लोक को विद्यमान देखता है। सच्चे भक्त जीवन की किसी भी अवस्था, जैसे पुनर्जन्म, स्वर्ग या नरक में वास आदि से भयभीत नहीं होते, क्योंकि वे सर्वत्र अपने प्रभु को ही देखते हैं (भा.पु. ६.१७.२८)। यदि तुम हर समय प्रभु को देखना, स्मरण करना और उनके साथ रहना चाहते हो, तब तुम्हें सर्वत्र, सब वस्तुओं में, प्रभु को देखने का अभ्यास करना सीखना चाहिए।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्य् एकत्वम् आस्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो मनुष्य अद्वैतभाव से सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को ही स्थित समझकर मेरी उपासना करता है, वैसा योगी, किसी भी हालत में क्यों न रहे, मुझमें ही स्थित रहता है।

(६.३१)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है, जो सबको अपने जैसा समझे और दूसरों के दुःख और पीड़ा का अनुभव कर सके. (६.३२)

मानव को सब जीवों को अपने बच्चों जैसा समझना चाहिए (भा.पु. ७.१४.०६). सच्चे भक्त का यह एक गुण है. सन्त पुरुष सब स्त्रियों में मां का रूप देखते हैं, दूसरों के धन को तुण समान और सब प्राणियों को आत्मवत्. बिरला ही है वह व्यक्ति जिसका हृदय दूसरों की पीड़ा की आग में पिघलता है और जो दूसरों की प्रशंसा सुनकर हर्षित होता है.

चंचल मन को नियंत्रित करने के दो उपाय

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस् त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोर इव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्जुन बोले— हे मधुसूदन, आपके द्वारा कहे गए ध्यानयोग की यह समत्व अवस्था मन के चंचल होने के कारण स्थायी नहीं हो सकती है; क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा ही चंचल, दुष्ट, बलवान् और दृढ़ है. अतः इसे वश में करना वायु को वश में करने की तरह कठिन है. (६.३३-३४)

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले— हे महाबाहो, निस्सन्देह यह मन बड़ा ही चंचल और आसानी से वश में न होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मन को (ध्यान आदि का) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जाता है. (६.३५)

वैराग्य व्यक्ति की जगत् और इसके पदार्थों की निराधारता के ज्ञान के अनुपात में होता है (म.भा. १२.१७४.०४). वैराग्यहीन चिन्तन और मनन वैसा ही है, जैसा वस्त्रविहीन शरीर पर अलंकार (तु.रा. २.१७७.०२).

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुम् उपायतः ॥३६॥

जिसका मन वश में नहीं है, उसके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कठिन है, परन्तु वश में किए हुए मनवाले प्रयत्नशील व्यक्ति को साधना करने से योग प्राप्त होना सहज है, ऐसा मेरा मत है. (६.३६)

असफल योगी की गति

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्च चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, श्रद्धालु, परन्तु असंयमी व्यक्ति, जो योग-मार्ग से विचलित हो जाता है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को न प्राप्तकर किस गति को प्राप्त होता है? (६.३७)

कच्चिन् नोभयविभ्रष्टश् छिन्नाभ्रम् इव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो कृष्ण, क्या भगवत्प्राप्ति के मार्ग से गिरकर आश्रय-रहित व्यक्ति (भोग और योग) दोनों से वंचित रहकर, विडम्बित-भित्त बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ? (६.३८)

एतन् मे संशयं कृष्ण छेतुम् अहस्यु अशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्य उपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण, मेरे इस संशय को सम्पूर्ण रूप से दूर करने में आप ही समर्थ हैं, क्योंकि आपके सिवा कोई दूसरा इस संशय को दूर करनेवाला मिलना संभव नहीं है. (१५.१५ भी देखें.) (६.३९)

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस् तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, योगी का न तो इस लोक में न परलोक में ही नाश होता है. हे तात, शुभ काम करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता. (६.४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनाम् एव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यद् ईदृशम् ॥४२॥

असफल योगी पुण्य कर्म करनेवालों के लोकों को प्राप्तकर, वहाँ बहुत समय तक रहकर फिर अच्छे आचरणवाले धनवान् मनुष्यों अथवा ज्ञानवान् योगियों के घर में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म संसार में बहुत ही दुर्लभ है. (६.४१-४२)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन, वहाँ उसे पूर्वजन्म में संग्रह किया हुआ ज्ञान अपनेआप ही प्राप्त हो जाता है तथा वह योगसिद्धि के लिए फिर प्रयत्न करता है. (६.४३)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्य अवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुर् अपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

वह बेबस की तरह अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के द्वारा परमात्मा की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है. भगवत्प्राप्ति के जिज्ञासु भी वेद में कहे हुए सकाम कर्मफल की प्राप्ति से आगे का फल प्राप्तकर लेता है. (६.४४)

प्रयत्नाद् यतमानस् तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धसु ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी पिछले अनेक जन्मों से धीरे-धीरे शुद्ध होता हुआ सारे पापों से रहित होकर परमगति (अर्थात् मुक्ति) को प्राप्त होता है. (६.४५)

आध्यात्मिक यात्रा लम्बी और धीमी है, किन्तु कोई भी निष्ठा-युक्त प्रयास व्यर्थ नहीं जाता. सभी जीव अन्त में विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर मुक्त हो जाते हैं.

श्रेष्ठतम योगी कौन?

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश् चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगी सकाम भाववाले तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करनेवालों से भी श्रेष्ठ है. अतः, हे अर्जुन, तुम योगी बनो. (६.४६)

योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

समस्त योगियों में भी जो योगी-भक्त मुझमें तल्लीन होकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है, वही मेरे मत से सर्वश्रेष्ठ है. (१२.०२, १८.६६ भी देखें.) (६.४७)

ध्यान या अन्य कोई भी कार्य अधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण हो जाता है, यदि वह ज्ञान, विश्वास और श्रीकृष्ण-भक्ति के साथ किया जाता है. आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान अनिवार्य है, पर पर्याप्त नहीं. मन को सदा भगवान् कृष्ण की याद में लीन रखा जाना चाहिए. शास्त्रों के अध्ययन, आत्म-विश्लेषण और सेवा के माध्यम से मन सदा ध्यानमुद्रा में रह सकता है. कहा जाता है कि कोई भी योग अन्य योगों के अभाव में अकेले पूर्ण नहीं है. जैसे अच्छा भोजन बनाने में सब उपादानों का उचित मात्रा में सम्मिश्रित होना अनिवार्य है, उसी प्रकार सेवा, जप, पूजा, ध्यान, शास्त्राध्ययन, चिन्तन, मनन, भक्ति आदि परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं.

अपने अन्तःकरण को मंत्र-ध्यान से शुद्ध करने के पूर्व व्यक्ति को उस स्तर तक पहुँचना अनिवार्य है, जहाँ उसकी चेतना-पद्धति मंत्र के प्रति संवेदनशील हो सके. इसका अर्थ यह है कि पहले व्यक्ति की सामान्य कामनाओं की पूर्ति, या वैराग्य द्वारा सन्तुष्टि, हो जानी चाहिए; तथा व्यक्ति को पतंजलि के योगसूत्र के पहले चार चरणों का अभ्यास कर लेना चाहिए. यह वैसा ही है, जैसा सोने का घोल लगाने से पहले अलंकार को साफ करना आवश्यक है.

इस प्रकार ध्यानयोग नामक छठा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोगः

७. ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच—

मय्य् आसक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्त मनवाले, मेरे आश्रित होकर अनन्य प्रेमभाव से योग का अभ्यास करते हुए तुम मुझे पूर्ण रूपसे निस्सन्देह कैसे जान सकोगे, उसे सुनो. (७.०१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्य् अशेषतः ।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें ब्रह्म-अनुभूति (विज्ञान) सहित ब्रह्मविद्या (ज्ञान) प्रदान करूंगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है. (मु.उ. १.०१.०३ भी देखें.) (७.०२)

वे, जो परब्रह्म को जान लेते हैं, पूर्णता पा लेते हैं (ऋ.वे. १.१६४.३६). जब परब्रह्म का श्रवण, मनन, दर्शन, चिन्तन और ज्ञान हो जाता है, तब सब कुछ जान लिया जाता है. व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है (बृह.उ. ४.०५.०६). ब्रह्मविद्या की उषा के आगमन के साथ अन्य सब चीजों के ज्ञान की आवश्यकता अप्रासांगिक हो जाती है. जैसे स्वर्ण के ज्ञान के बाद स्वर्ण से निर्मित सब पदार्थ जान लिए जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म को जानने से परब्रह्म

की सब अभिव्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। परब्रह्म और क्षर पुरुष दोनों को पूर्णतः समझने के लिए ब्रह्म का समझना अनिवार्य है। योगी चिमनभाई का कहना है— जो भगवान् कृष्ण को परब्रह्म के रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ समझा जाता है, पर जो सब कुछ जानता है, पर श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह कुछ भी नहीं जानता।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।

यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्ध योगियों में भी कोई एक मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है। (७.०३)

बुलाए तो बहुत जाते हैं, पर चुने थोड़े-से ही जाते हैं (मैथुन्यु २२.१४)। परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान और भक्ति पा लेनेवाले भाग्यवान् थोड़े-से ही हैं।

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा

भूमिर् आपोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिर् एव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिर अष्टधा ॥४॥

मेरी प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व आठ प्रकार से विभाजित है। (१३.०५ भी देखें।) (७.०४)

'प्रकृति' शब्द से अभिप्राय है भौतिक मूल कारण, वह पदार्थ जिससे सब चीजों का निर्माण होता है। प्रकृति भौतिक विश्व का मूल स्रोत है, जो सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार उन तीन गुणों और आठ मूल तत्त्वों से बनी है, जिनसे विश्व की सब वस्तुओं का विकास हुआ है। समस्त विश्व के निर्माण का भौतिक मूल कारण वेदान्त के अनुसार माया है और सांख्य के अनुसार प्रकृति। प्रकृति को असत्, क्षर, तत्त्व, नियति, भौतिक प्रकृति, महत्ब्रह्म, क्षेत्र, कृति, व्यक्त आदि भी कहा गया है। वह, जो विविधता का निर्माण करती है और स्वयं विविध रूपों में अवतरित होती है तथा वह सब जो देखा या जाना जा सकता है, प्रकृति कहलाती है।

अपरेयम् इतस् त्व अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो, उपरोक्त प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है। इससे भिन्न मेरी एक दूसरी परा चेतन शक्ति (अर्थात् 'पुरुष') है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।

(७.०५)

श्लोक ७.०४ और ७.०५ में प्रकृति के दो प्रकारों का वर्णन है। श्लोक ७.०४ में वर्णित अष्टांग प्रकृति को अपरा शक्ति या जड़ प्रकृति कहा गया है। यही सामान्यतः प्रकृति जानी जाती है। भौतिक विश्व का यही निर्माण करती है। श्लोक ७.०५ में वर्णित दूसरी प्रकृति को परा शक्ति, चेतन प्रकृति, चेतना, बोध, आत्मा, अक्षर पुरुष आदि भी कहा गया है। यही सामान्यतः पुरुष कहा जाता है। पुरुष अपरिवर्तनीय, अविकारी है। जबकि पुरुष से उत्पन्न प्रकृति परिवर्तनशील है, विकारी है। पुरुष प्रकृति का निरीक्षण करता है, साक्षी है और निर्देशक भी।

पुरुष विश्व की सृष्टि का निमित्त-कारण है। प्रकृति और पुरुष की दो स्वतंत्र सत्ताएं नहीं हैं, वरन् एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ब्रह्म, पुरुष तथा प्रकृति एक ही हैं और भिन्न भी हैं, जिस प्रकार सूर्य, उसका प्रकाश तथा ऊष्मा एक होते हुए भी भिन्न हैं।

जल और जल से उत्पन्न तथा जल से पोषित मछली एक ही नहीं हैं, वैसे ही पुरुष और पुरुष से उत्पन्न प्रकृति भी एक नहीं हैं (म.भा. १२.३१५-१४). जब पुरुष प्रकृति के गुणों का आनन्द इन्द्रियों के संयोग से भोगता है, तब वह जीव कहलाता है. आत्मा और जीव भी भिन्न हैं, क्योंकि आत्मा जीव का पोषण करती है, लेकिन ज्ञानी लोग उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते (भा.पु. ४.२८.६२).

परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, प्रकृति आदि कुछ शब्दों की परिभाषा विभिन्न सिद्धान्त-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न की गई है और संदर्भों के अनुसार उनके अर्थ भी भिन्न होते हैं. प्रस्तुत विवरण में सम्प्रदाय-निरपेक्ष 'भगवान् (God)' शब्द से अभिप्राय है विश्व का एकमात्र प्रभु, जिसे हम व्यक्तिगत नाम 'श्रीकृष्ण' से पुकारना पसन्द करते हैं. आध्यात्मिक यात्रा के पथ पर अग्रसर पाठक के लिए विभिन्न पारिभाषिक शब्द भ्रम पैदा कर सकते हैं, अतः इन विभिन्न अभिव्यक्तियों का सम्पूर्ण अर्थ, प्रयोग और क्रमिक सम्बन्ध किसी की सहायता से जानना चाहिए.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

तुम ऐसा समझो कि इन दोनों शक्तियों प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; तथा मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्रोत हूँ: (१३.२६ भी देखें.) (७.०६)

परमात्मा सब वस्तुओं का आधार

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है. यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परब्रह्म परमात्मरूपी सूत्र में (हार की) मणियों की तरह पिरोया हुआ है. (७.०७)

गौ, अश्व, मानव, पक्षी तथा अन्य समस्त प्राणियों में वही एक आत्मा विद्यमान है, वैसे ही जैसे रत्न, हीरे, सोने, मोती या काठ से निर्मित माला में वही सूत्र (म.भा. १२.२०६.०२-०३). यह समस्त सृष्टि प्रभु से व्याप्त है (यजु.वे. ३२.०८).

रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश् चास्मि तपस्विषु ॥९॥

हे अर्जुन, मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और मनुष्यों में मनुष्यत्व हूँ. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ. सम्पूर्ण भूतों का जीवन और तपस्वियों में तप हूँ. (७.०८-०९)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिर् बुद्धिमताम् अस्मि तेजस तेजस्विनाम् अहम् ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो. मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ. (९.१८, १०.३९ भी देखें.) हे भरतश्रेष्ठ, मैं आसक्ति और कामना

से रहित बलवानों का बल हूँ और मनुष्यों में धर्म के अनुकूल (सन्तान की उत्पत्ति मात्र के लिए) किए जानेवाला सम्भोग हूँ. (७.१०-११)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास् तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्मि न त्व् अहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण हैं, उन सबको तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो. (अतः) वे (गुण) मुझपर निर्भर करते हैं, परन्तु मैं उनके आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं होता हूँ. (९.०४, ९.०५ भी देखें.) (७.१२)

त्रिभिर् गुणमयैर् भावैर् एभिः सर्वम् इदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम् ॥१३॥

प्रकृति के इन तीनों गुणों के कार्यों से यह सारा संसार भ्रमित रहता है, अतः मनुष्य इन गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है. (७.१३)

प्रभु की खोज किसको?

दैवी ह्य एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

माम् एव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार करना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को (आसानी से) पार कर जाते हैं. (१४. २६, १५.१९, १८.६६ भी देखें.) (७.१४)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः ॥१५॥

पाप कर्म करनेवाले, मूर्ख, आसुरी स्वभाववाले नीच मनुष्य तथा माया के द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले मेरी शरण में नहीं आते हैं. (७.१५)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम मनुष्य – दुःख से पीड़ित, परमात्मा को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छावाले तथा ज्ञानी – मुझे भजते हैं. (तु.रा. १.२१.०३ भी देखें.) (७.१६)

श्लोक ७.१६-१६ में प्रयुक्त ज्ञानी शब्द का अभिप्राय उस प्रबुद्ध व्यक्ति से है, जिसे परब्रह्म परमात्मा का सच्चा ज्ञान हो गया है.

व्यक्ति जो भी काम करता है, वह कामना की उपज है. फल की कामना के बिना कोई भी व्यक्ति कभी भी कुछ भी नहीं कर सकता (म.स्मू. २.०४). कामनाओं का सम्पूर्ण विनाश नहीं किया जा सकता, परन्तु निम्न कोटि की स्वार्थपूर्ण कामनाओं का परिवर्तन कर सकते हैं. मुक्ति की कामना कामना का श्रेष्ठ उदात्त रूप है. समस्त मानवीय कामनाओं में श्रीकृष्ण की भक्ति की कामना उच्चतम और पावनतम मानी जाती है. ऐसा कहा गया है कि प्रबुद्ध भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करते. वे जन्म-जन्मान्तर तक श्रीकृष्ण की प्रेम-भरी सेवा की ही गहन कामना करते हैं.

जो भक्त परिपूर्णता के लिए प्रभु की ओर प्रेरित होते हैं, उनकी निम्न कोटि की कामनाएं भुने हुए बीज के दानों की तरह हो जाती हैं, जो अंकुरित होकर कामना के बड़े वृक्ष में नहीं बढ़ सकते. वास्तविक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भक्ति, मुक्ति, प्रेम, घृणा, भय या भौतिक लाभ के लिए भी भगवान् कृष्ण में मन को पूर्णतः ध्यान-मग्न होकर लगाएँ (भा.पु. १०.२२.२६).

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर् विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उन चार भक्तों में भी मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मुझ परमात्मा को तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त ही प्रिय हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है. (७.१७)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्व् आत्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा माम् एवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उपरोक्त सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु मेरी समझसे तत्त्वज्ञ तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि युक्तात्मा उत्तम गति को प्राप्त कर मेरे परमधाम में निवास करता है. (९.२९ भी देखें.) (७.१८)

बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करता है; ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है. (७.१९)

सब कुछ वस्तुतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है और उसी में विलीन हो जाता है (छा.उ. ३.१४.०१). सब कुछ ब्रह्म ही है, वही सर्वत्र है. यह सारा जगत् ब्रह्म ही है (मु.उ. २.०२.११). बाइबिल का कहना है— तुम ही देवगण हो (जॉन १०.३४). वेदों और उपनिषदों की उक्ति है— चेतना ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म, ऋग्वेद, ऐत.उ. ३.०३). मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि, यजुर्वेद, बृह.उ. १.०४.१०). तुम ही ब्रह्म हो (तत्त्वमसि, सामवेद, छा.उ. ६.०८.०७). आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म, अथर्ववेद, मा.उ. ०२). वह, जो एक है, इन सब वस्तुओं का रूप लेता है (ऋ.वे. ८.५८.०२). समस्त सृष्टि और सत्ता का समस्त क्रम ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप को छोड़कर कुछ भी नहीं है.

कस्तूरी मृग कस्तूरी की सुगन्धि के स्रोत की निरर्थक खोज के बाद अन्त में अपने में ही कस्तूरी को पाने के लिए बाध्य होगा. प्रभुबोध के बाद व्यक्ति समस्त विश्व और प्राणियों के अस्तित्व में प्रभु की ही अलौकिक सत्ता को देखता है. सब कुछ चेतना ही है. सृष्टि माया की वायु से चेतना के सागर में उत्पन्न होती हुई असंख्य तरंगों की तरह है. सब कुछ, माया सहित, उसी परम सत्ता के अभिन्न अंग को छोड़कर कुछ नहीं है.

कामैस् तैस्तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियमम् आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव से प्रेरित होकर नियमपूर्वक देवताओं की पूजा करते हैं. (७.२०)

भक्ति के किसी भी वांछनीय रूप की

मूर्ति में प्रभु का दर्शन सम्भव

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुम् इच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां ताम् एव विदधाम्य् अहम् ॥२१॥

स तथा श्रद्धया युक्तस् तस्याराधनम् ईहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥२२॥

जो कोई सकाम भक्त जिस किसी भी देवता को श्रद्धापूर्वक पूजा चाहता है, मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ. उस स्थिर श्रद्धा से युक्त

वह मनुष्य अपने इष्टदेव की पूजा करता है और उस देवता के द्वारा इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है. वास्तव में वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिए जाते हैं. (७.२१-२२)

देवगणों की शक्ति भी परम प्रभु से ही आती है, जिस प्रकार सुरभि फूल से (भा.पु. ६.०४.३४). प्रभु ही कर्मफल का दाता है (ब्र.सू. ३.०२.३८). प्रभु ही अपने उपासकों की सब कामनाएं पूरी करता है (भा.पु. ४.१३.३४). श्रद्धा और प्रेम से उपासना किए जाने पर प्रभु भक्त की सब निष्ठाएं और लाभकारी कामनाएं पूरी करता है. ज्ञानी को अनुभूति होती है कि सब नाम और रूप उसी के हैं, जबकि अज्ञानी दूसरों के मूल्य पर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए धर्म के नाम से धर्मयुद्ध करते हैं.

कहा जाता है कि व्यक्ति जिस किसी भी देवी-देवता की पूजा करता है, उनको दिया हर अर्घ्य, उनकी की गई हर उपासना, परब्रह्म परमात्मा को ही पहुंचती है; वैसे ही, जैसे वर्षा का सारा जल सागर में ही पहुंचता है. प्रभु के जिस नाम और रूप की भी भक्त आराधना करता है, वह सब उसी परब्रह्म की पूजा है और व्यक्ति श्रद्धा सहित की गई उस देवपूजा का पुरस्कार पाता है.

अन्तवत् तु फलं तेषां तद् भवत्य् अल्पमेधसाम् ।

देवान् देवयजो यान्ति मद्रक्ता यान्ति माम् अपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों को (नाशवान्) देवताओं का दिया हुआ फल नाशवान् होता है. देवताओं को पूजनेवाले देवलोक को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त (परमधाम में आकर) मुझे ही प्राप्त करते हैं. (७.२३)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।

परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥२४॥

अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के मन, बुद्धि तथा वाणी से परे, परम अविनाशी दिव्य रूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूपवाला निराकार हूं तथा रूप धारण करता हूं. (७.२४)

श्लोक २.२५, २.२८, ७.२४, ८.१८, ८.२०, ८.२१, ६.०४, १२.०१, १२.०३, १२.०५ और १३.०५ में 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है. संदर्भ के अनुसार इस शब्द के भी भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं. यह आदि प्रकृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और ब्रह्म के अर्थ में भी. परब्रह्म आदि प्रकृति और ब्रह्म दोनों से ऊपर है. 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ आकारहीन नहीं है. इसका अर्थ अप्रकट या लोकोत्तर अनुभवातीत रूप है, जो शारीरिक चक्षुओं के लिए अदृश्य, मन की समझ से परे और शब्दों के लिए अवर्णनीय है. सभी वस्तुओं के रूप हैं. सृष्टि में कुछ भी, परब्रह्म-सहित, रूपहीन नहीं है. सभी रूप उसके ही रूप हैं. परब्रह्म का रूप और व्यक्तित्व दिव्य हैं. वह शाश्वत, अनादि और अनन्त है. अदृश्य परम सत्ता ही दृश्य जगत् का आधार है.

इस श्लोक का अर्थ सर्वमान्य विश्वास का खंडन करता-सा प्रतीत होता है कि प्रभु, जैसा कि श्लोक ४.०६-०८ और ६.११ में कहा गया है, अवतार लेते हैं. श्लोक ७.२४ में यह कहा गया है कि परब्रह्म सदा अव्यक्त हैं और इसलिए कभी प्रकटरूप नहीं होते. सही अर्थों में परब्रह्म अवतरित नहीं होते. वे कभी भी परमधाम के बाहर नहीं जाते. यह तो ब्रह्म की ज्ञानशक्ति है, जो सृष्टि, पोषण, विनाश और अवतरण का काम अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा करती रहती है.

प्रभु का शाश्वत दिव्य रूप मनुष्य के मन और बुद्धि द्वारा ज्ञेय आकृति या अनाकृति से परे है. सन्त-मुनियों द्वारा अदृश्य, सार्वभौमिक और अवर्णनीय प्रभु का वर्णन सामान्य

भक्तों के मनों में प्रभु का प्यार पैदा करने के लिए किया गया है, जो अर्चन-पूजन के लिए नितान्त आवश्यक है. प्रभु भक्त के सामने किसी साकार रूप में उसकी आस्था को सुदृढ़ करने के लिए प्रकट होते हैं. अतः व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रभु के सब रूपों का आदर करे, पर किसी एक रूप के साथ सम्बन्ध स्थापित करके केवल उसी की पूजा करे.

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको माम् अजम् अव्ययम् ॥२५॥

जो मूढ़ मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के जन्मरहित, अविनाशी, दिव्य रूप को अच्छी तरह नहीं जान तथा समझ पाते हैं, उन सबके सामने अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं कभी प्रकट नहीं होता हूँ. (७.२५)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता. (७.२६)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गं यान्ति परंतप ॥२७॥

येषां त्व् अन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

हे अर्जुन, राग और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व द्वारा भ्रमित सभी प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त होते हैं; परन्तु निष्काम भाव से अच्छे कर्म करनेवाले जिन मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो गए हैं, वे राग-द्वेष-जनित भ्रम से मुक्त होकर दृढ़निश्चय कर मेरी भक्ति करते हैं. (७.२७-२८)

जरामरणमोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम् अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरे शरणागत होकर जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सारे कर्मों को पूर्ण रूप से जान जाते हैं. (७.२९)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर् युक्तचेतसः ॥३०॥

जो युक्तचित्तवाले मनुष्य अन्त समय में भी मुझे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप से जानते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं. (८.०४ भी देखें.) (७.३०)

इस प्रकार ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय पूर्ण होता है.

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षरब्रह्मयोगः

८. अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच—

किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तम् अधिदैवं किम् उच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुन बोले— हे पुरुषोत्तम, ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं? अधियज्ञ कौन है तथा वह इस देह में कैसे रहता है? हे मधुसूदन, संयत चित्तवाले मनुष्य द्वारा अन्त समय में आप किस तरह जाने जाते हैं? (८.०१-०२)

ब्रह्म शाश्वत है. उसे ब्रह्मन्, अक्षर ब्रह्म, अक्षर पुरुष और अपरब्रह्म भी कहा गया है. इस संस्करण में हमने शाश्वत सत्ता के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है.

ब्रह्म, आत्मा, जीवात्मा और कर्म की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— परम अविनाशी आत्मा ही ब्रह्म है. ब्रह्मका स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है. प्राणियों को उत्पन्न करनेवाली ब्रह्म की क्रिया-शक्ति को कर्म कहते हैं.

(८.०३)

जीव छः इन्द्रियों, बुद्धि, अहम् और पांच प्राणों से बना सूक्ष्म शरीर है. जीवात्मा का अर्थ है आत्मा द्वारा पोषित जीव. जीवात्मा भौतिक शरीर में प्रतिष्ठापित व्यक्तिगत आत्मा भी कहा जाता है. सूक्ष्म शरीर कर्म तथा अनुभूति के अवयवों को संचालित करते हुए भौतिक शरीर को सक्रिय और जीवित रखता है.

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहम् एवात्र देहे देहभूतां वर ॥४॥

हे श्रेष्ठ अर्जुन, नश्वर वस्तु को अधिभूत और अक्षरब्रह्म के विस्तार (नारायण आदि) को अधिदैव कहते हैं. इस शरीर में ईश्वररूप मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही अधियज्ञ हूँ. (८.०४)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म

अन्तकाले च माम् एव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्य् अत्र संशयः ॥५॥

जो मनुष्य अन्तकाल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है. इसमें सन्देह नहीं है. (प्र.उ. ३.१० भी देखें.) (८.०५)

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्य् अन्ते कलेवरम् ।

तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे अर्जुन, मनुष्य मरते समय जिस किसी भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (छा.उ. ३.१४.०१ भी देखें.) (८.०६)

ऐसा हो सकता है कि — अपने जीवन-काल में भक्ति और प्रभु की अनुभूति का सतत अभ्यास करते हुए भी — व्यक्ति को मृत्यु के समय प्रभु का स्मरण न आए. अतः मृत्युपर्यन्त प्रभु की अनुभूति रहनी चाहिए (ब्र.सू. १.०१.१२). सन्त अपने उत्तरोत्तर जन्मों में अपना प्रयास जारी रखते हैं, फिर भी सम्भव है मृत्यु के समय वे प्रभु का स्मरण करना भूल जाएं. जीवन-यापन का आदर्श ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य मृत्यु के समय परमपिता भगवान् कृष्ण का स्मरण कर सके. इसलिए मनुष्य को बचपन से ही खाने, सोने, किसी भाग का आरम्भ करने तथा स्वाध्याय आदि से पहले प्रभु-स्मरण की आदत डालकर दैनिक जीवन में प्रभु-अनुभूति का अभ्यास करना चाहिए.

प्रभु-प्राप्ति का एक सहज मार्ग

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च ।

मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् माम् एवैष्यस्य असंशयम् ॥७॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम सदा मेरा स्मरण करो और अपना कर्तव्य करो. इस तरह मुझमें अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निस्सन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगे. (१२.०८ भी देखें.) (८.०७)

मुत्यु के समय का प्रधान विचार ही व्यक्ति के अगले जन्म को निश्चित करता है. अतः जीवन का परम लक्ष्य सदा प्रभु-स्मरण होना चाहिए, जिससे व्यक्ति को मृत्यु के समय भगवान् की याद आ सके.

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ, परमात्मा के ध्यान के अभ्यास रूपी योग से युक्त, एकाग्र चित्त से परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है. (८.०८)

आध्यात्मिक जागृति और प्रभु-चेतना ध्यान, जप, चिन्तन, मनन आदि द्वारा सतत प्रभु के वारे में सोचने से होती है. समस्त जीवन की साधना हमारी नियति निर्धारित करती है. आध्यात्मिक अनुष्ठान हमारे मन को प्रभु-चिन्तन में लीन और उसके कमल-चरणों में केन्द्रित रखने के लिए हैं. श्री रामकृष्ण ने कहा है: जब तम्हें किसी वस्तु की कामना हो, तब तुम एकान्त में आंखों में निष्ठा के आंसू भरकर मां काली से प्रार्थना करो, तुम्हारी मनोकामनाएं पूरी होंगी. उन्होंने यह भी कहा है कि आत्मज्ञान तीन दिनों में प्राप्त किया जा सकता है. जितनी गहनता से मनुष्य आध्यात्मिक साधना करता है, उतनी ही शीघ्रता से वह पूर्णता को प्राप्त करता है.

गहन लालसा, आतुरता, कामनातिरेकता और दृढ़ता के साथ किए गए सतत प्रयास के साथ विश्वास और आस्था की प्रबलता ही आध्यात्मिक विकास की गति निर्धारित करती है. हठयोग की सच्ची साधना आधुनिक योगकेन्द्रों में सिखाये जानेवाले योगाभ्यास नहीं है, वरन् है परम सत्य श्रीकृष्ण की खोज में किया गया व्यक्ति का सतत, सुदृढ़ और साग्रह कर्म.

आत्मज्ञान कोई सहज काम नहीं है. यह दृढ़ निश्चय के साथ शुरू किए गए क्रमिक आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया है, जो धीरे-धीरे व्रत-प्रतिज्ञा, प्रभुकृपा और आस्था की ओर अग्रसर होते हुए अन्त में परम सत् की प्राप्ति तक पहुंच जाती है (यजु.वे. १६.३०). परब्रह्म की प्राप्ति परिस्वादाओं, बुद्धि या शिक्षा से सम्भव नहीं है. यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति शीषण प्रयास के साथ निष्ठापूर्वक उसकी गहन कामना करे. निष्ठापूर्वक गहन कामना प्रभु की कृपा लाती है, जिससे परब्रह्म प्रकट होते हैं (मु.उ. ३.०२.०३). ब्रह्म परब्रह्म के सत् स्वरूप का विस्तार है, परब्रह्म की आत्मा है. इसीलिए ब्रह्म को सत् अथवा आत्मा भी कहा गया है. यदि परब्रह्म बीज है, तो ब्रह्म उसका अंकुर है, जगत् उसका वृक्ष है.

कविं पुराणम् अनुशासितारम्

अणोर् अणीयांसम् अनुस्मरेद् यः ।

सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम्

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
 भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
 भ्रुवोर् मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्
 स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो भक्त सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सबका पालन-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाशित तथा अविद्या से परे परमात्मा का सदा स्मरण करता है, वह अचल मन से योगबल के द्वारा प्राणको भृकुटी के बीच में अच्छी तरह से स्थापित करके शरीर छोड़ने पर परमात्मा को प्राप्त करता है. (कठ.उ. २.२०, यजु.वे. ३१.१८ तथा गीता ४.२९, ५.२७, ६.१३ भी देखें.) (८.०९-१०)

यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति
 विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।
 यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
 तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेद के जाननेवाले विद्वान् जिसे अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील महात्मा जिसे प्राप्त करते हैं और जिस परमपद की प्राप्ति के लिए साधक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उसे मैं तुम्हें संक्षेप में कहूंगा. (कठ.उ. २.१५ भी देखें.) (८.११)

मृत्युकाल में प्रभु के ध्यान से मोक्ष-प्राप्ति

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
 मूर्ध्न्य् आधायाम्नः प्राणम् आस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
 ओम् इत्य् एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् ।
 यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो साधक सब इन्द्रियों को वश में करके, मन को परमात्मा में और प्राण को मस्तक में स्थापित कर तथा योगधारणा में स्थित होकर अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति, ओंकार, का उच्चारण करके मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह परमगति को प्राप्त होता है. (८.१२-१३)

पुस्तकीय ज्ञान का अपना स्थान है, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभूति ही के द्वारा बाह्य सीपी को तिलांजलि देकर आन्तरिक मूल तक पहुंचा जा सकता है. ध्यानयोग आन्तरिक अनुभूति का मार्ग है, जिसे व्यक्तिगत रूप से सुयोग्य गुरु द्वारा सीखा जाना चाहिए. मन के सही स्वभाव का बोध ध्यान की ओर ले जाता है.

ध्यान की एक सहज विधि

(१) अपने मुख, हाथ और पैर धोएं तथा सिर, गर्दन और रीढ़ की हड्डी को सीधे ऊपर की ओर रखते हुए आरामदेह मुद्रा में किसी शान्त, स्वच्छ और अंधेरे स्थान में बैठें. ध्यानकाल में संगीत या धूपबत्ती आदि की सलाह नहीं है. ध्यान का काल और स्थान निश्चित होना चाहिए. वचन, विचार और कर्म से यम-नियम का पालन करें. कुछ योगासन भी आवश्यक हैं. प्रतिदिन १५-२० मिनट संध्या, मध्य-रात्रि और प्रातःकाल का समय ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय है. (२) जिस इष्टदेव में आस्था है, उनके नाम या रूप का स्मरण करें, उनका आशीर्वाद मांगें. (३) अपने नयन मूंद लें और ५-१० अत्यन्त धीमे और गहरे श्वास लें. (४) वक्ष-केन्द्र के अभ्यन्तर पर अपनी दृष्टि, मन और भाव केन्द्रित कर धीरे-धीरे सांस लें. भीतर की ओर सांस लेते समय मन ही मन 'रा' का जाप करें और बाहर की ओर सांस लेते समय 'म' का. ऐसा सोचें जैसे कि स्वयं श्वास ही ये 'रा' और 'म' ध्वनि

उच्चारित कर रहा है। मानसिक दृष्टि से नथुनों द्वारा सांस को भीतर जाते और फिर बाहर आते हुए देखते रहें। श्वास को नियंत्रित करने का प्रयास न करें, स्वाभाविक श्वास लें। (५) श्वास ली जाती हुई वायु के अनन्त देश में अपने-आप को लीन करने का प्रयत्न करें। यदि मन श्वास-पथ का अनुसरण करने से विचलित हो, तो पुनः चरण (३) से शुरु करें। नियपूर्वक, टालमटोल न करके, दृढ़ता से अपनी साधना जारी रखें।

ओम् की ध्वनि तीन मूल ध्वनियों — अ, उ, म — का समुच्चय है। यह समस्त उच्चारित की जा सकने वाली उपयुक्त ध्वनि का प्रतीक है। यह आदिम संवेग भी है, जो हमारे पांच स्नायु-केन्द्रों (nerve centers) को संचालित करता है, जो हमारी शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। योगानन्द ओम् को जगत् रूपी यंत्र के कम्पन की ध्वनि कहते हैं। बाइबिल का कथन है— आदि में शब्द (ओम्, आमीन, अल्लाह) था और शब्द प्रभु के पास था तथा शब्द परमेश्वर था (जॉन १.०१)। यह अनाहत ध्वनि योगियों द्वारा विभिन्न प्रकार के शब्द या मिश्रित शब्द के रूप में सुनी जाती है।

ओम्-गत ध्यान, जिसका उल्लेख प्रभु ने यहां किया है, सब धर्मों के सन्तों और ऋषियों द्वारा प्रयुक्त अत्यन्त सशक्त और पवित्र ध्यान-विधि है, प्रक्रिया है। यह पतंजलि के अन्तिम छः चरणों को तीन सरल चरणों में जोड़ती है। ऊपर दी गई ध्यान-विधि के तीन मास के अभ्यास के बाद निष्ठावान् शोधार्थियों को ओम्-गत ध्यान-विधि लिखित प्रार्थना पर American Gita Society, 511 Lowell Place, Fremont, California, 94536-1805, USA or www.gita-society.com द्वारा निःशुल्क दी जाती है। संक्षेप में, ओम्-गत ध्यान-विधि, ओम्-ध्वनि के सतत गुंजन से मस्तिष्क को व्याप्त करना है।

जिनका मन ध्यान में न लग पाए, उनके लिए भगवान् ने नित्य-स्मरण की एक सरल विधि अगले श्लोक में बताई है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे अर्जुन, जो मुझमें ध्यान लगाकर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूँ: (८.१४)

माम् उपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

महात्मा लोग परम सिद्धिरूपी मुझे प्राप्त करने के बाद फिर इस नश्वर, दुःख-भरे सन्सार में पुनर्जन्म नहीं लेते। (८.१५)

मानवीय जन्म यातनापूर्ण है। सन्त, ऋषि, मुनि और मानवरूप में अवतरित प्रभु भी मानव-शरीर के शारीरिक और मानसिक यातनाओं से बच नहीं सकते। व्यक्ति को यातनाओं का सहन करना सीखना तथा मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

आब्रह्मभुवनाल् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन, ब्रह्मलोक और उसके नीचे के सभी लोकों के प्राणियों का पुनर्जन्म होता है; परन्तु हे कुन्ती-पुत्र, मेरा लोक अर्थात् परमधाम प्राप्त होने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। (९.२५ भी देखें।) (८.१६)

सृष्टि में सब कुछ आवर्ती है

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

जो लोग यह जानते हैं कि ब्रह्माजी के एक दिन की अवधि एक हजार युग (एक कल्प अर्थात् ४.३२ अरब वर्ष) है तथा उनकी एक रात की अवधि भी एक हजार युग है, वे दिन और रात को जाननेवाले हैं. (८.१७)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्य् अहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ब्रह्माजी के दिन के आरम्भ में अव्यक्त अक्षर ब्रह्म (अर्थात् आदि प्रकृति) से सारा जगत् उत्पन्न होता है, तथा ब्रह्माजी की रात्रि के आने पर जगत् उस अव्यक्त में ही विलीन हो जाता है. (८.१८)

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्य् अहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ, वही प्राणिसमुदाय अवश-जैसा हुआ बार-बार ब्रह्माजी के दिन में उत्पन्न तथा ब्रह्माजी की रात्रि में विलीन होता रहता है. (८.१९)

वेदों के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त वृत्त है तथा प्रथम सृष्टि-जैसा कुछ नहीं है.

परस् तस्मात् तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्यु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्यु उक्तस् तम् आहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥२१॥

परन्तु इस क्षर प्रकृति से परे एक दूसरी अविनाशी आदि प्रकृति है, जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती. उसीको अव्यक्त अक्षरब्रह्म अर्थात् परमगति कहा गया है, वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है. (८.२०-२१)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस् त्व् अनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वम् इदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, सभी प्राणी जिस परमात्मा के अन्दर हैं तथा जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता है. (९.०४, ११.५५ भी देखें.) (८.२२)

संसार से जाने के दो प्रमुख मार्ग

यत्र काले त्व् अनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतकुल-श्रेष्ठ, जिस मार्ग द्वारा शरीर त्यागकर गए हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गति को और वापस लौटनेवाली गति को प्राप्त होते हैं, उन दोनों मार्गों को मैं तुम्हें बताऊंगा. (८.२३)

अग्रिर् ज्योतिर् अहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जो ब्रह्मविद् साधकजन अग्नि, प्रकाश, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मासवाले (ज्ञान का प्रकाश) मार्ग द्वारा जाते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (तथा पुनः संसार में

वापस नहीं आते हैं). (छा.उ. ४.१५.०५, ५.१०.०१, बृह.उ. ६.२.१५, प्र.उ.१.१० तथा ईशा.उ. १८ भी देखें.) (८.२४)

योगानन्द के अनुसार उपनिषद् की यह उक्ति गीता में सबसे रहस्यमय और गलत समझी गई श्लोक है. मानव-शरीर में हजारों सूक्ष्म और स्थूल नाड़ियाँ हैं. उनमें से केवल एक सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मरन्ध्र — सप्तम चक्र में स्थित प्रमस्तिष्कीय द्वार — की ओर जाती है. यदि मृत्यु के समय पंचाग्नियों के ऊर्जा केन्द्र चक्रों पर ध्यानावस्थित होने के फलस्वरूप प्राण सुषुम्ना नाड़ी से होकर शरीर से बाहर निकलते हैं, तो जीव मुक्ति पा लेता है (छा.उ. ८.६.०६, कठ.उ. ६.१६, ब्र.सू. ४.२.१७).

जो भी पंच ऊर्जा-चक्रों पर ध्यानावस्थित होना जानता है, वह पावन, सदाचारी और शुचितम हो जाता है तथा कमल-पत्र की भांति पाप-पंकित नहीं होता (छा.उ. ५.१०.१०). यह स्थिति देवयान माध्यम से शरीर में स्थित निम्न केन्द्रों से जीवात्मा की क्रम-मुक्ति मानी जाती है, जो देवों की ओर ले जानेवाला मार्ग है. इस श्लोक में जीव के निष्क्रमण के शुभ काल का जो उल्लेख है, वह शरीर के नक्षत्रीय धरातल में विभिन्न ऊर्जा-केन्द्रों के स्वामी देवों की ओर ही इंगित करता है. स्वर्ग का राज्य हम सबके भीतर है. सूक्ष्म ब्रह्माण्ड सप्त चक्रों के रूप में हमारे शरीर में सारे लोकों का प्रतिनिधित्व करता है. प्रकृति की शक्तियों पर शासन करनेवाले देव भी शरीर के इन्हीं चक्रों में निवास करते हैं और शरीर को प्रभावित करनेवाली शक्तियों को नियंत्रित करते हैं.

उपनिषद् (छा.उ. ५.१०.०१) में भी अतिमानवीय देव का उल्लेख है. क्रियायोग में निष्णात गुरुओं के अनुसार यह अतिमानवीय देवशक्ति कुण्डलिनी शक्ति ही है. श्रुति द्वारा इस विश्लेषण का समर्थन किया गया है. श्री रामकृष्ण का भी कहना है कि कुण्डलिनी को जाग्रत् किए बिना आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव नहीं है. जब ऊर्जा कुण्डलिनी की जाग्रत् शक्ति द्वारा ऊपर की ओर उठती है और सातवें चक्र में पहुँचती है, तब आठवें धरातल में जाकर वह ब्रह्म में लीन हो जाती है. योगशास्त्रों का कहना है— जब तक कुण्डलिनी शक्ति निम्न चक्र में प्रसुप्त रहती है, तब तक जप, ध्यान, पूजा आदि द्वारा सफलता मिलना सम्भव नहीं है.

धूमो रात्रिस् तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर् योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मासवाले (अज्ञान) मार्ग से जानेवाला सकाम योगी स्वर्ग जाकर पुनः वापस आता है. (छा.उ. ५.१०.०३-०५, ब्र.सू. ३.०१.०८ तथा गीता ९.२१ भी देखें.) (८.२५)

जिन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वे अपने पुण्यों के फल की समाप्ति पर पुनर्जन्म लेते हैं (मु.उ. १.०२.०६). यदि आत्मा का निष्क्रमण सुषुम्ना नाड़ी को छोड़कर किसी और मार्ग से होता है, तो व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिलती और वह आवर्तित जन्म-मरण का भागी होता है.

आत्मज्ञान से मुक्ति

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्य् अनावृत्तिम् अन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत् में ये दो शुक्ल और कृष्ण (अर्थात् ज्ञान और अज्ञान) सनातन मार्ग माने गए हैं. इनमें ज्ञानमार्ग के द्वारा जानेवालों को लौटना नहीं पड़ता और अज्ञान मार्गवालों को लौटना पड़ता है. (८.२६)

उपनिषद् में एक तीसरे मार्ग का भी वर्णन है — पशु, कृमि आदि निम्न जीवों का पथ. पुण्यहीन लोग, जो किसी भी पथ के उपयुक्त नहीं हैं, पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि निम्न योनियों में पुनर्जन्म लेते हैं (बृह.उ. ६.०२.१५-१६). अमर्त्य जीवात्मा अनन्त काल तक इस धरा पर चौरासी लाख विभिन्न जीव-योनियों से बने आवागमन के इस महासागर में भटकता रहता है. दयालु प्रभु अपनी इच्छा या कृपा से, बिना किसी कारण, मानव-जीवन की अमूल्य भेंट प्रदान करता है, जो आवागमन के महासागर को पार करने के लिए नौका के समान है (तु.रा. ७.४३.०२-०४). यह भी कहा गया है कि मानव-जन्म, प्रभु में आस्था और गुरुकृपा, प्रभु की कृपा से ही मिलता है. हमारा वर्तमान जीवन हमारे भावी जीवन की तैयारी के लिए अवसर प्रदान करता है. इस जन्म में किए गए कर्मों के अनुसार व्यक्ति अगले जन्म में उन्नति या मुक्ति पाता है, अथवा अवनति या निम्न योनि में पुनर्जन्म, या उसे पुनः मानव-शरीर में जन्म देकर मुक्ति पाने का अवसर दिया जाता है.

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ, इन दो मार्गों को तत्त्व से जाननेवाला कोई भी योगी भ्रमित नहीं होता. इसलिए, हे अर्जुन, तुम सदा योगयुक्त रहो. (८.२७)

वेदेषु यज्ञेषु तपसु चैव

दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा

योगी परं स्थानम् उपैति चाद्यम् ॥२८॥

योगी इस अध्याय को समझकर वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दान में जो पुण्यफल कहे गए हैं, उन सबको लौंच जाता है और परब्रह्म परमात्मा के परमधाम को प्राप्त करता है. (८.२८)

इस प्रकार अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोगः

९. राजविद्याराजगुह्ययोग

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्य अनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज् ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— दोषदृष्टि-रहित तुमको मैं इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या (ज्ञान) को ब्रह्म अनुभूति (विज्ञान) सहित बताता हूँ, जिसे जानकर तुम जन्म-मरण के दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जाओगे. (९.०१)

ब्रह्म का तत्त्वज्ञान एक परम रहस्य है

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रम् इदम् उत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ॥२॥

यह तत्त्वज्ञान सब विद्याओं का राजा, रहस्यमय, अत्यन्त पवित्र, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन में सुगम तथा अविनाशी है. (९.०२)

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परन्तप अर्जुन, इस धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य मुझे न प्राप्तकर मृत्युरूपी संसार में बारम्बार जन्म लेते हैं. (१.०३)

जिस व्यक्ति की प्रभु में आस्था है, उसके लिए सब कुछ सम्भव है (मार्क ६.२३). मुक्ति का द्वार खोलने के लिए प्रभु की शक्ति में विश्वास कुंजी है.

मया ततम् इदं सर्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्व् अवस्थितः ॥४॥

यह सारा संसार मुझ परब्रह्म परमात्मा की आदि प्रकृति अर्थात् अव्यक्त अक्षरब्रह्म का विस्तार है. सभी मुझपर आश्रित या स्थित रहते हैं, मैं उनपर आश्रित नहीं रहता. (७.१२ भी देखें.) (१.०४)

द्वैत सिद्धान्त के दृष्टिकोण से लहरें सागर पर निर्भर करती हैं, सागर लहरों पर नहीं. किन्तु अद्वैतवाद के दृष्टिकोण से, जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है, लहरों के सागर पर या सागर का लहरों पर निर्भर करने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि न लहरें हैं, न सागर, मात्र जल ही है. इसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है (गीता ७.१६).

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ।

भूतभृन् न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देखो कि वास्तव में मैं सभी भूतों को उत्पन्न तथा पोषण करनेवाला उनपर आश्रित नहीं रहता तथा वे सब भी मुझपर आश्रित नहीं रहते. (भा.पु. २.०९.३४-३६ भी देखें.) (१.०५)

लहर पानी है, पर पानी लहर नहीं है. पानी वाष्प, मेघ, वर्षा, हिम आदि बन गया है; और बुलबुला, झील, नदी, लहर तथा सागर भी. ये सब पानी के विभिन्न रूपों, रूपान्तरों को छोड़कर कुछ भी नहीं है. अद्वैत के दृष्टिकोण से न सागर है, न लहर, न झील, बस मात्र जल ही है. किन्तु, लहर तब तक लहर है, जब तक उसे अपनी सही प्रकृति का बोध नहीं होता कि वह लहर नहीं जल है. जब लहर को यह बोध हो जाता है कि वह जल है, तब लहर लहर नहीं रहती, जल हो जाती है. इसी प्रकार जब व्यक्ति को यह बोध हो जाता है कि वह यह भौतिक शरीर नहीं है, वरन् भौतिक शरीर में निवास करती हुई आत्मा के रूप में ब्रह्म है, तब वह भौतिक शरीर से ऊपर उठ जाता है और तुरन्त बिना किसी भौतिक परिवर्तन के ब्रह्म के साथ एक हो जाता है (गीता १८.५५). भौतिक शरीर के रूप में व्यक्ति मर्त्य है; आकार के रूप में सीमित है; उसका रंग, योनि और अपना स्वभाव है; किन्तु आत्मा के रूप में वह मुक्त है, अमर है और असीम ब्रह्म है. यह बोध ही मुक्ति है.

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्य् उपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाली महान् वायु सदा आकाश में (बिना कोई सहारा लिए) स्थित रहती है, वैसे ही सभी मुझमें स्थित रहते हैं, ऐसा समझो. (१.०६)

स्थूल पदार्थ — जैसे नक्षत्र और तारे — सूक्ष्म अन्तरिक्ष में बिना किसी भी सहारा के टिके रहते हैं, इसी प्रकार अन्तरिक्ष सहित समस्त लोक ब्रह्म के संयुक्त क्षेत्र में विद्यमान हैं. समय की पहुंच अन्तरिक्ष में नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शाश्वत, अमेघ और अपने क्षेत्र में घटित सब वस्तुओं से अप्रभावित है, वैसे ही जैसे बादलों से आकाश नहीं भीगता है.

सृष्टि-रचना और प्रलय का सिद्धान्त

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्य अहम् ॥७॥

हे अर्जुन, एक महाकल्प (अर्थात् ३११x१0¹² वर्ष या d<Q=11 Trillion solar years) के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि का मेरी आदि प्रकृति में लय हो जाता है और दूसरे महाकल्प के प्रारम्भ में मैं फिर उसकी रचना करता हूँ. (९.०७)

जैसे मकड़ी अपने भीतर से जाला बुनती है, उसमें क्रीड़ा करती है और फिर जाले को अपने ही भीतर खींच लेती है, वैसे ही ब्रह्म अपने ही भीतर से भौतिक जगत् की रचना करता है, जीव-रूप में उसमें क्रीडारत रहता है और प्रलयकाल में उसे अपने भीतर समेट लेता है (भा.पु. ११.०६.२१). समस्त अभिव्यक्तियां ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर पोषित होती हुई अन्त में उसी ब्रह्म में समा जाती हैं, जैसे बुलबुले पानी से पैदा होते हैं, पोषित होते हैं और पानी में ही समा जाते हैं. बिना किसी बाह्य कर्ता के अपनी ही आन्तरिक शक्ति से ब्रह्म स्वयं की अभिव्यक्ति लोक में करता है. विभिन्न शक्तियों का स्वामी होने से यह सम्भव है कि बिना किसी बाहरी सहायता के एक ब्रह्म अपने को अनेक में अभिव्यक्त करता है. इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का कर्ता भी है और मूल भौतिक कारण भी.

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर् वशात् ॥८॥

मैं अपनी मायारूपी प्रकृति के द्वारा इन समस्त प्राणि-समुदाय को जो प्रकृति (के गुणों) के वश में रहते हैं बार-बार रचता हूँ. (९.०८)

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।

उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे अर्जुन, सृष्टि की रचना आदि कर्मों में अनासक्त और उदासीन रहने के कारण वे कर्म मुझ (परमात्मा) को नहीं बांधते. (९.०९)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥१०॥

हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में माया देवी (अपनी प्रकृति के द्वारा) चराचर जगत् को उत्पन्न करती है. इस तरह सृष्टि-चक्र चलता रहता है. (१४.०३ भी देखें.) (९.१०)

ज्ञानी और अज्ञानी के मार्ग

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम् ।

परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मुझ परमेश्वर के परम भाव को नहीं जानने के कारण जब मैं मनुष्य का शरीर धारण करता हूँ मूढ़ लोग (मुझे साधारण मनुष्य समझकर) मेरा अनादर करते हैं, क्योंकि वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव से मोहित, वृथा आशा, वृथा कर्म तथा वृथा ज्ञानवाले अविचारी मनुष्य (मुझे नहीं पहचान पाते) हैं. (९.११-१२)

जब भगवान् कृष्ण इस धरती पर थे, तब अनेक अलौकिक और दिव्य कर्म करने के बावजूद, मात्र कुछ ही व्यक्ति उन्हें परमात्मा के रूप में जान पाए थे. स्वयं धर्मराज यधिष्ठिर को नारद मुनि से यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ था कि धर्मराज का ममेरा भाई

श्रीकृष्ण ही मानवरूप में स्वयं परब्रह्म हैं (भा.पु. ७.१५.७६). निष्कर्ष यह है कि परब्रह्म का बोध व्यक्ति के अपने सत्कर्म और प्रभु की कृपा के बिना नहीं हो सकता.

महात्मानस् तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः ।

भजन्य् अनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम् ॥१३॥

परन्तु हे अर्जुन, दैवी स्वभाववाले महात्मा लोग मुझे अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का दोनों— उपादान और निमित्त — कारण समझकर अनन्य मन से मेरी भक्ति करते हैं.

(९.१३)

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

मेरा सतत कीर्तन करते हुए, प्रयत्नशील, दृढव्रती साधक मुझे नमस्कार करके भक्तिपूर्वक निरन्तर मेरी उपासना करते हैं. (९.१४)

ज्ञानयज्ञेन चाप्य अन्ये यजन्तो माम् उपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कोई साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा, कोई अद्वैतभाव से, दूसरे द्वैतभाव से तथा कोई अनेक प्रकार से पूजा करके मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं. (९.१५)

सब कुछ परमात्मा का ही विस्तार है

अहं क्रतुर् अहं यज्ञः स्वधाहम् अहम् औषधम् ।

मन्त्रोऽहम् अहम् एवाज्यम् अहम् अग्निर् अहं हुतम् ॥१६॥

पिताहम् अस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेधं पवित्रम् ओंकार ऋक् साम यजुर् एव च ॥१७॥

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजम् अव्ययम् ॥१८॥

धार्मिक संस्कार मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, स्वधा मैं हूं, औषध मैं हूं, मंत्र मैं हूं, घी मैं हूं, अग्नि मैं हूं तथा हवन-कर्म भी मैं ही हूं. (४.२४ भी देखें.) मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धारण करनेवाला और पितामह हूं. मैं ही जाननेयोग्य वस्तु हूं; पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं. प्राप्त करने योग्य परमधाम, भरण करनेवाला, सबका स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरण लेने योग्य, मित्र, उत्पत्ति, प्रलय, आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूं. (७.१०, १०.३९ भी देखें.) (९.१६-१८)

तपाम्य अहम् अहं वर्षं निगृह्णाम्य् उत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सद् असच् चाहम् अर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन, मैं ही (संसार के हित के लिए) सूर्यरूप से तपाता हूं, मैं वर्षा का निग्रह और उत्सर्जन करता हूं. अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूं. (१३.१२ भी देखें.)

(९.१९)

अनन्य प्रेमभक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैर् इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले, (भक्तिरूपी) सोमरस पान करनेवाले, पापरहित मनुष्य मुझे यज्ञ के द्वारा पूजकर स्वर्ग प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं, वे अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्तकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं (९.२०)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे लोग उस विशाल स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर, पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्युलोक में आते हैं. इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म करनेवाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं. (८.२५ भी देखें.) (९.२१)

अनन्याश् चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य अहम् ॥२२॥

जो भक्तजन अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ. (९.२२)

सदाचारी पुरुष के पास धन और सुख स्वयं ही बिना मांगे चले आते हैं, वैसे ही जैसे नदी स्वतः ही सागर की ओर जाती है (तु.रा. १.२६३.०२). भौतिक सम्पदा स्वतः सदाचारी व्यक्ति के पास आती है, जैसे नदी का जल स्वभावतः ही नीचे की ओर बहता है (वि.पु. १.११.२४). भगवान् राम कहते हैं: जो अविचल भक्तिभाव से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनका वैसा ही ध्यान रखता हूँ, जैसा मां अपने बच्चे का (तु.रा. ३.४२.०३). अतः मनुष्य को अन्य वस्तु का चिन्तन न करके केवल परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिए. किसी भी उद्यम में काली, लक्ष्मी और सरस्वती — इन तीन माताओं की कृपा के बिना सफलता सम्भव नहीं है. अतः स्वास्थ्य, सम्पदा और ज्ञान के जिज्ञासुओं को प्रभु के मातृस्वरूप की पूजा करने को प्रोत्साहित किया जाता है.

स्वर्ग के पिता को मालूम है कि तुम्हें क्या चाहिए. इसलिए पहले तुम उसके राज्य और धर्म को खोजो. वह तुम्हें सब वस्तुएं उपलब्ध कराएगा (मैतथ्यु ६.३२-३३). कुछ भी पाना कठिन नहीं है जब मैं प्रसन्न होता हूँ; किन्तु विशुद्ध भक्त, जिसका मन अखंडरूप से मुझमें लगा है, मेरी सेवा के अवसर के सिवा और कुछ भी नहीं मांगता — मुक्ति भी नहीं (भा.पु. ६.०६.४८). यदि तुम समर्पित होकर, प्रभु को उसकी इच्छा के अनुरूप अपना पथप्रदर्शन करने दो, तो प्रभु तुम्हारे लिए श्रेष्ठतर वस्तुओं का चयन करेंगे.

येऽप्य् अन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि माम् एव कौन्तेय यजन्त्य् अविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, जो भक्त श्रद्धापूर्वक दूसरे देवी-देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं — पर अज्ञानपूर्वक. (९.२३)

परमसत्य एक ही है, ज्ञानी लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं, पूजते हैं (ऋ.वे. १.१६४.४६). दिव्य प्रभु की मातृरूप में पूजा भी वेदों में है, जहां ऋषि की गहन लालसा है दिव्य मां का वत्स होने की (ऋ.वे. ७.८.१.०४). सृष्टि को पालने-पोसने के लिए ब्रह्म की अभिव्यक्ति देवों के रूप में भी हुई है, जो अनेक नाम-रूपों में एक ही हैं (ऋ.वे. ३.५५.०१). परब्रह्म नारी है, नर है, बालक है, बालिका है, वृद्ध है. वह हर रूप में विद्यमान है (अथ.वे. १०.०८.२७). सब देवी-देवता एक ही दिव्य पुरुष के प्रतिनिधि हैं. वह अनेक में एक है और एक में अनेक. व्यक्ति को सृष्टि में भौतिक तत्त्वों, जैसे सम्पत्ति, परिवार, मित्र आदि

की पूजा नहीं करनी चाहिए; पर भौतिक वस्तुओं में सृष्टिकर्ता की पूजा की जा सकती है, क्योंकि वह सब शिलाओं में है। वेदों में वर्णित देवों का सिद्धान्त एकता में विविधता पैदा नहीं करता, विविधता में एकता की प्रस्थापना करता है। देवी-देवता प्रकृति की शक्ति के ही विभिन्न नाम, रूप या प्रतीकात्मक प्रतिनिधि हैं।

देवी-देवता वह नली है जिसके माध्यम से अपरिमित चेतना के जलाशय में से पूजा और प्रार्थना के रूप में व्यक्त आस्था की शक्ति के द्वारा दैवी कृपा के जल को प्रवाहित किया जा सकता है। किन्तु आस्था का अंकुर तभी दृढ़ धारणा का वृक्ष बनता है, जब वह आत्मज्ञान की धारा से बाहर निकलता है और तर्क के तुषार से बचा रहता है। देवी-देवता का मनन-चिन्तन करने से हम ब्रह्माण्ड की शक्तियों की अन्तर्निहित ऊर्जा (Potential Energy) का आवाहन करते हैं। जोसेफ कैम्बेल का कहना है— “मिथक प्रतिमाएं हममें से हर एक की आध्यात्मिक क्षमताओं का प्रतिबिम्ब हैं और देवी-देवता दिव्य प्रेम उद्दीप्त करते हैं।” सब विभिन्न प्रकारों की पूजा उसी एक भगवान् तक पहुंचती है, जैसे सब विभिन्न सरिताओं का जल उसी सागर को जाता है। नौसिखियाओं के लिए प्रतिमा या प्रभु की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की सहायता से की गई पूजा आवश्यक है। अगला चरण ऋचाओं का गान और दैवी नामों का जाप है। ब्रह्म-चेतना का दर्शन, अर्थात् हर व्यक्ति में ब्रह्म की अभिव्यक्ति को देखना उच्चतम आध्यात्मिक विकास है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुर् एव च ।

न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेनातश् च्यवन्ति ते ॥२४॥

क्योंकि, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूं; परन्तु वे मुझे (परमेश्वर के अधियज्ञ स्वरूप) को तत्त्व से नहीं जानते, इसीसे उनका पतन अर्थात् आवागमन होता है. (९.२४)

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितॄव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मघाजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं को पूजनेवाले देवलोक जाते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितृलोक जाते हैं, भूत-प्रेतों को पूजनेवाले भूत-प्रेतों के लोक को जाते हैं तथा मेरी पूजा करनेवाले भक्त मेरे परमधाम को जाते हैं (और उनका पुनर्जन्म नहीं होता). (८.१६ भी देखें.) (९.२५)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तद् अहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, मैं उस शुद्धचित्तवाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूं: (भा.पु. १०.८१.०४ भी देखें.) (९.२६)

प्रभु प्रेम और भक्ति-भाव के भूखे हैं। प्रभु को प्रसन्न करने और उनकी कृपा पाने के लिए समर्पित हृदय की आवश्यकता है, जटिल कर्मकाण्डों की नहीं। भगवान् को अर्पित करके ही व्यक्ति को भोजन करना चाहिए। भक्तों को प्रसन्न करने के लिए वे अर्पित किया भोजन ग्रहण करते हैं। पहले प्रभु को अर्पित करके भोजन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

यत् करोषि यद् अश्नासि यज् जुहोषि ददासि यत् ।

यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो दान देते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे ही अर्पण करो. (१२.१०, १८.४६ भी देखें.) (९.२७)

प्रसिद्धि का प्रेम समस्त योग और तप को विनष्ट करनेवाली अग्नि है. माया की भ्रामक शक्ति भयावह है, दुर्जेय है. यदि व्यक्ति सब-कुछ भगवान् के लिए ही नहीं करता है तो माया सबको धोखा देती है — योगियों को भी.

शुभाशुभफलैर् एवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो माम् उपैष्यसि ॥२८॥

इस प्रकार संन्यासयोगयुक्त होकर कार्य करने से तुम कर्मफल के शुभ और अशुभ दोनों बन्धनों से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे. (९.२८)

कोई अक्षम्य पापी नहीं

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्य् अहम् ॥२९॥

सभी प्राणी मेरे लिए बराबर हैं. न मेरा कोई अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो श्रद्धा और प्रेम से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे समीप रहते हैं और मैं भी उनके निकट रहता हूँ: (७.१८ भी देखें.) (९.२९)

मैं परमपिता के साथ हूँ और परमपिता मेरे साथ हैं (जॉन १०.३८ और १४.११). मांगो और दिया जाएगा, खोजो और पाओगे (मैथ्यू ७.०७). प्रभु की कृपा पाने में मांगने-भर की देर है. भक्ति के द्वार सबके लिए खुले हैं, किन्तु आस्थावान् और समर्पित व्यक्ति, जो अपने मन-मन्दिर में भक्ति की धूपबत्ती जलाते हैं, वे प्रभु के साथ एक हो जाते हैं. पिता यूँ तो अपने सब बच्चों को समान रूप से प्रेम करता है; किन्तु जो बच्चा पिता के प्रति समर्पित है, पिता को अधिक प्रिय होता है, चाहे वह बहुत धनी, बुद्धिमान् या शक्तिशाली न हो. इसी प्रकार भक्त भगवान् को बहुत ही प्रिय होता है. आध्यात्मिक अनुशासन के अभ्यास द्वारा प्रभु की कृपा से व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त करता है. आत्मप्रयास और प्रभुकृपा दोनों ही आवश्यक हैं. वेदों के अनुसार प्रभु उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं (ऋ.वे. ४.३३.११). योगानन्द का कथन है— प्रभु उन्हीं का चयन करते हैं, जो प्रभु का चयन करते हैं.

सूर्य की किरणों की भांति प्रभुकृपा सबको समान रूप से उपलब्ध है. किन्तु मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति होने से यह जरूरी है कि वह इस प्रभुकृपा रूपी सूर्य के प्रकाश को भीतर आने देने के लिए हृदय की खिड़की को खोले. कहा गया है कि दिव्यता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, किन्तु हमारे अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई बाधाओं के निराकरण के लिए सही दिशा में किया गया प्रयास भी आवश्यक है. हमारे अपने प्रयासों से प्रभुकृपा भी द्रुतगति से आती है. यह भी माना जाता है कि प्रभुकृपा और प्रयास एक ही वस्तु है. प्रयास ब्रह्मज्ञान की प्रक्रिया का उसी प्रकार प्रवर्तन करता है, जिस प्रकार खाद पौधों की अभिवृद्धि में.

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् ।

साधुर् एव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥

यदि कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी अनन्य भक्ति-भाव से मुझे भजता है, तो उसे भी साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने सही निश्चय किया है. (९.३०)

कोई भी पाप या पापी अक्षम्य नहीं है। सच्चे प्रायश्चित्त की अग्नि सब पापों को जला देती है। कुरआन का कथन है— जो अल्लाह में विश्वास रखते हैं और सही कर्म करते हैं, अल्लाह उनको उनके बुरे कामों को माफ कर देगा (सूरा ६४.०६)। हर सन्त का एक पंकिल अतीत होता है और हर पापी का उज्ज्वल भविष्य। योगानन्दजी कहा करते थे, सन्त वह पापी है, जिसने कभी हार नहीं मानी। बाइबिल कहती है— जिस किसी का प्रभु में विश्वास है, उसे अमर जीवन मिलेगा (जॉन ३.१५)। स्वार्थहीन उद्देश्य से किए गए जप, तप, सेवा और दान, पाप कर्म के प्रायश्चित्त हैं; पाप धो देते हैं, वैसे ही, जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार दूर हो जाता है। निष्काम भाव से कल्याणकारी शुभ कर्म का अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है (म.भा. ३.२०७.५७)।

भक्तिमार्ग अन्य मार्गों से सहज

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

और वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तुम यह निश्चयपूर्वक सत्य मानो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश अर्थात् पतन नहीं होता है। (९.३१)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास् तथा शूद्रास् तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापी आदि जो कोई भी मेरी शरण में आते हैं, वे सभी परमधाम को प्राप्त करते हैं। (१८.६६ भी देखें)। (९.३२)

आध्यात्मिक साधना आस्था, अभिरुचि और व्यक्ति की अपनी क्षमता के अनुरूप होनी चाहिए। हो सकता है कुछ लोग परम सत्य के ज्ञान की प्राप्ति के लिए अभी तैयार न हों, पर भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है। भक्ति पाने के लिए जाति, धर्म, लिंग या बौद्धिक क्षमता के कारण कोई भी अयोग्य नहीं होता। अधिकतर ऋषि-मुनियों ने भक्तिमार्ग को सब मार्गों से सहजतम और श्रेष्ठतम माना है।

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस् तथा ।

अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर पुण्यशील ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तजनों का तो कहना ही क्या? इसलिए यह क्षणभंगुर और सुखरहित मनुष्य-शरीर पाकर तुम निरन्तर मेरा ही भजन करो। (९.३३)

जीव माया की ऐन्द्रजालिक शक्ति के प्रभाव से पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्रों से गुजरता है। प्रभु अपनी कृपासे जीवको अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर देते हैं। मानव-शरीर प्रभु की अपनी प्रतिमा के रूप में सृष्टि का वह रत्न है, जिसमें जीवात्मा को आवागमन के जाल से मुक्त कर अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर ले जाने की शक्ति है। मानव-जीवन को छोड़कर धरती पर अन्य सब जीवनरूप उच्चतर बुद्धि और नीर-क्षीर-विवेक में अक्षम हैं।

जिस प्रकार बाघ अचानक जंगल से आता है और रेवड़ में से घास चरते हुए मेमने को उठा ले जाता है, वैसे ही मृत्यु सहसा आ जाती है और व्यक्ति को ले जाती है। अतः आध्यात्मिक साधना और सत्कर्म उचित समय के आगमन की प्रतीक्षा किए बिना करने चाहिए (म.भा. १२.१७५.१३)। मानव-जीवन का ध्येय और कर्तव्य प्रभु की खोज है। प्रभु की खोज में विलम्ब नहीं होना चाहिए। जीवन के अन्य कर्तव्यों के साथ ही साथ व्यक्ति को सतत प्रभु की खोज में रत रहना चाहिए, नहीं तो बहुत देर हो सकती है।

मन्मना भव मद्रक्तो मघाजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्यसि युक्तवैवम् आत्मानं मत्परायणः ॥३४॥

मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो. इस प्रकार मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर अपने-आपको मुझसे युक्त करके तुम मुझे ही प्राप्त होगे.

(९.३४)

इस प्रकार राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोगः

१०. विभूतियोग

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, मेरे परम वचन को तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम-जैसे अतिशय प्रेम रखनेवाले के हित के लिए कहूंगा. (१०.०१)

परमात्मा सब वस्तुओं का मूल है

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहम् आदिर् हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति को देवता, महर्षि आदि कोई भी नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं सभी देवताओं और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ. (१०.०२)

यो माम् अजम् अनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढ स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और समस्त लोकों के महान् ईश्वर के रूप में जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है और सब पापों से मुक्त हो जाता है. (१०.०३)

बुद्धिर् ज्ञानम् असंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयम् एव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस् तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, भ्रम का अभाव, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-संयम, मन का संयम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश आदि प्राणियों के अनेक प्रकार के भाव मुझसे ही प्रकट होते हैं. (१०.०४-०५)

यदि तुमने और सब को क्षमा कर दिया है, तो स्वर्ग में रहनेवाला पिता भी तुम्हें क्षमा कर देगा (मैत्थ्यु ६.१४). दुष्ट के साथ भी दुष्टता न करो (मैत्थ्यु ५.३६). अपने शत्रुओं से प्रेम करो और अपने प्रति दुर्व्यवहार करनेवालों के लिए प्रार्थना (मैत्थ्यु ५.४४). यदि दुष्कर्मी क्षमा-याचना न करे, तो क्षमादान देनेवाले के नियंत्रण में रखा क्रोध दुष्कर्मी को बड़ी हानि पहुंचाता है और उनका पुण्य हर लेता है (म.भा. ५.३६.०५). दुष्कर्म करनेवाला अपने दुष्कर्म से विनष्ट हो जाता है, यदि वह क्षमा-याचना नहीं करता (म.स्मृ. २.१६३). जो सचमुच अतिचार को क्षमा कर देता है, वह सही रूप में सुखी है, क्योंकि क्षमादानी का क्रोध नष्ट हो जाता है. यदि पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्धों में एक भी व्यक्ति के प्रति नकारात्मक भाव या पीड़ा-भरी अनुभूति है, तो आध्यात्मिक साधना में बाधा आती है.

सद्गुण का भी अपना दोष है। क्षमादान को प्रायः निर्बलता का प्रतीक समझा जा सकता है, अतः क्षमाशीलता सशक्त की शक्ति है और अशक्त का गुण। व्यक्ति को तभी क्षमा किया जाना चाहिए, जब वह सच्चे दिल से क्षमा-याचना करे, यदि यह उसका पहला अपराध हो, अपराध जानबूझकर न हुआ हो और यदि अपराधी अतीत में सहायक रहा हो। जानबूझकर बार-बार अपराध करनेवाले अपराधी को सही मार्ग पर लाने और शिक्षा देने के लिए बिना किसी बदले की भावना से दण्ड के उपकरण का उपयोग किया जा सकता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस् तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षि, उनसे पहले चार सनकादि तथा चौदह मनु— ये सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में ये सारी प्रजा हैं. (१०.०६)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो मनुष्य मेरी इस विभूति और योगमाया को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है. (१०.०७)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही जगत् का विकास होता है. ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझ परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं.

(१०.०८)

वह जो एक है, यह सब हो गया है (ऋ.वे. ८.५८.०२).

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोध्यन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मुझमें ही चित्त को स्थिर रखनेवाले और मेरी शरण में आनेवाले भक्तजन आपस में मेरे गुण, प्रभाव आदि का कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट रहकर रमते हैं. (१०.०९)

प्रभु भक्तों को ज्ञान देता है

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते ॥१०॥

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तों को मैं ब्रह्मज्ञान और विवेक देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं. (१०.१०)

जिन्होंने प्रभु में विश्वास किया, वे प्रभु के पास स्वर्ग में आते हैं (जॉन १.१२). जो भी प्रभु के राज्य छोटे बच्चे की तरह ग्रहण नहीं करेगा, वह उसमें कभी प्रवेश नहीं कर पाएगा (ल्यूक १८.१७).

तेषाम् एवानुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्य् आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनपर कृपा करके उनके अन्तःकरण में रहनेवाला, मैं, उनके अज्ञानजनित अन्धकार को तत्त्वज्ञानरूपी दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ. (१०.११)

श्रीकृष्ण के अन्य रूपों को विभिन्न साधनों से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण को पाने का भक्ति और अनन्यप्रेम ही एकमात्र साधन है (योगी चिमनभाई).

आध्यात्मिक ज्ञान और प्रभु प्राप्ति का दीप भक्ति की ज्वलन्त चिनगारी से सरलतापूर्वक ज्योतित किया जा सकता है, बुद्धि और तर्क से कभी नहीं।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम् ॥१२॥

आहुस् त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर् नारदस् तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोले— आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं; आप शाश्वत दिव्य पुरुष आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं; ऐसा देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि समस्त ऋषिजन तथा स्वयं आप भी मुझसे कहते हैं. (१०.१२-१३)

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप कोई नहीं जान सकता

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये यन् मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर् देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव, मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं उस सबको मैं सत्य मानता हूँ. हे भगवन्, आपके वास्तविक स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव. (४.०६ भी देखें.) (१०.१४)

स्वयम् एवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले, हे भूतेश, हे देवों के देव, जगत् के स्वामी, पुरुषोत्तम, केवल आप स्वयं ही अपनेआप को जानते हैं. (१०.१५)

चरम सत्ता के अन्तिम स्रोत के प्रश्न पर वेद निरुत्तर ही रहे, यह घोषित करके कि कोई नहीं जानता कि सृष्टि के प्रादुर्भाव का अन्तिम स्रोत क्या है. ऋषियों ने तो यहां तक कहा कि शायद वह (स्रष्टा) स्वयं भी नहीं जानता (ऋ.वे. १०.१२६.०६-०७). वह, जो यह कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, नहीं जानता है; और जो जानता है, वह कहता है कि मैं नहीं जानता. ब्रह्म शुद्ध ज्ञानवाले व्यक्ति के लिए अज्ञात है, केवल अबोध व्यक्ति को ही वह ज्ञात है (केन.उ. २.०१-०३). ब्रह्माण्ड की शक्ति का अन्तिम स्रोत महान् रहस्य है और रहस्य ही रहेगा.

वक्तुम् अर्हस्य अशेषेण दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।

याभिर् विभूतिभिर् लोकान् इमांस् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अतः अपनी उन दिव्य विभूतियों को जिनसे आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं पूर्णरूपसे वर्णन करने में केवल आप ही समर्थ हैं. (१०.१६)

कथं विधाम् अहं योगिंस् त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥

हे योगेश्वर, मैं आपको निरन्तर चिन्तन करता हुआ कैसे जानूँ और हे भगवन्, किन-किन भावों द्वारा मैं आपका चिन्तन करूँ? (१०.१७)

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर् हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति एवं विभूतियों को विस्तारपूर्वक फिर से कहिए, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है. (१०.१८)

सम्पूर्ण सृष्टि परब्रह्म का विस्तार है

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्य् अन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं अपनी प्रमुख दिव्य विभूतियों को तेरे लिए संक्षेप में कहूंगा, क्योंकि मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है. (१०.१९)

अहम् आत्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहम् आदिश्च मध्यं च भूतानाम् अन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन, मैं समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ. (१०.२०)

आत्मा स्रोतहीन तथा अनादि है और परब्रह्म की सम्पदा है, जैसे धूप सूर्य की सम्पदा है (ब्र.सू. २.०३.१७). परब्रह्म और आत्मा (अर्थात् ब्रह्म) सूर्य और धूप की भांति हैं, भिन्न और अभिन्न (ब्र.सू. ३.०२.२८). जीवों में अवस्थित आत्मा चेतना या परम नियन्ता ईश्वर कहलाती है. विश्व में निहित वही आत्मा ब्रह्म है. आत्मा तन से भिन्न है, जैसे अग्नि लकड़ी से.

विश्व चेतना या आत्मा इन्द्रियों, मन या बुद्धि से नहीं जानी जा सकती, क्योंकि इन्द्रियों, मन और बुद्धि अपनी क्रियाशक्ति स्वयं आत्मा से पाते हैं (केन.उ. १.०६). आत्मा इन्द्रियों को चेतना प्रदान करती है, सहारा देती है, जैसे वायु अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि को उद्दीप्त करती है (म.भा. १२.२०३.०३). आत्मा इस विश्व में हर प्रकार की शक्ति, गति, बुद्धि और जीवन का आधार और सहारा है. यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्ति देखता है, सुनता है, सूँघता है, सोचता है, प्रेम करता है, घृणा करता है और पदार्थों की कामना करता है.

आदित्यानाम् अहं विष्णुर् ज्योतिषां रविर् अंशुमान् ।

मरीचिर् मरुताम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी ॥२१॥

मैं अदिति के (बारह) पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान् सूर्य हूँ, वायु-देवताओं में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ. (१०.२१)

इसी प्रकार के भाव वेदों में भी व्यक्त किए गए हैं (ऋ.वे. ४.२६.०१ और ६.६६.०६.)

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानाम् अस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानाम् अस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों की चेतना हूँ. (१०.२२)

रुद्राणां शंकरश् चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश् चास्मि मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥२३॥

मैं रुद्रों में शंकर हूँ और यक्षों तथा राक्षसों में धनपति कुबेर हूँ, वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ. (१०.२३)

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनाम् अहं स्कन्दः सरसाम् अस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ, मुझे पुरोहितों में उनका मुखिया बृहस्पति जानो. मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ. (१०.२४)

महर्षीणां भृगुर् अहं गिराम् अस्म्य् एकम् अक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में ओंकार हूं. मैं यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय पर्वत हूं. (१०.२५)

तुलसीदास, नानक, चैतन्य, प्रभुपाद आदि सभी आधुनिक सन्त-मुनि भी जप को आत्मज्ञान की सबसे शक्तिशाली और सहजतम विधि मानते हैं. तारक मंत्र — श्री राम, जय राम, जय जय राम — या किसी भी मंत्र को आस्था के साथ जपने से मंत्र का ध्वनि-संवेग मन की गहनतम परतों में जाकर नकारात्मक विचारों और चिन्तन को मन्द करने का काम करता है और उपयुक्त समय में आन्तरिक चेतना के मार्ग पर ले जाएगा. ध्यान जप का विकसित और उच्चतर सोपान है. अनुभवातीत ध्यान (Transcendental Meditation) में जाने से पूर्व व्यक्ति को जप का अभ्यास करना चाहिए. स्वामी हरिहर जी कहते हैं: दिव्य नाम के जप के बदले में किसी भी भौतिक पदार्थ को पाने की कामना नहीं होनी चाहिए. प्रभु के दिव्य नाम की आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग पाप का विनाश करने के लिए भी नहीं करना चाहिए. इसका उपयोग केवल प्रभुबोध के लिए ही किया जाना चाहिए.

नाम के बिना मानव बुद्धि के लिए प्रभु का रूप जानना या समझना सम्भव नहीं है. रूप को देखे बिना भी यदि व्यक्ति प्रभु के नाम का जप या ध्यान करता है, तो मानस-पट पर प्रेम के पात्र के रूप में प्रभु का रूप झलकता है. सन्त तुलसीदास का कहना है— यदि तुम भीतर और बाहर प्रकाश चाहते हो, तो अपनी जीभ के द्वार पर प्रभु के नाम का दीप जलाओ. ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों स्वरूपों से नाम बड़ा है, क्योंकि नाम की शक्ति का नियंत्रण ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों पर है (तु.रा. १.२१-२६). गुरु नानक का कथन है— सारे प्रयासों में उत्तम है सदा प्रभु के नाम का स्मरण और जप.

दैवी विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं समस्त वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूं. (१०.२६)

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां विद्धि माम् अमृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानाम् अहं वज्रं धेनूनाम् अस्मि कामधुक् ।

प्रजनश् चास्मि कन्दर्पः सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं अश्वों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा, शस्त्रों में वज्र, गायों में कामधेनु, संतान की उत्पत्ति के लिए कामदेव और सर्पों में वासुकि हूं. (१०.२७-२८)

अनन्तश् चास्मि नागानां वरुणो यादसाम् अहम् ।

पितृणाम् अर्यमा चास्मि यमः संयमताम् अहम् ॥२९॥

प्रह्लादश् चास्मि दैत्यानां कालः कलयताम् अहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं नागों में शेषनाग, जलदेवताओं में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासकों में यमराज; दिति के वंशजों में प्रह्लाद, गणना करनेवालों में समय, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ. (१०.२९-३०)

पवनः पवताम् अस्मि रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।

झषाणां मकरश् चास्मि स्रोतसाम् अस्मि जाहनवी ॥३१॥

मैं पवित्र करनेवालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ, जलचरों में मगर और नदियों में पवित्र गंगा नदी हूँ. (१०.३१)

सर्गाणाम् आदिर् अन्तश्च मध्यं चैवाहम् अर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदताम् अहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, सारी सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त भी मुझसे ही होता है. मैं विद्याओं में तारतम्य विद्या और विवाद करनेवालों का तर्क हूँ. (१०.३२)

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि द्रन्द्रः सामासिकस्य च ।

अहम् एवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरों में अकार और समासों में द्रन्द्र-समास हूँ. अक्षयकाल अर्थात् अकाल पुरुष तथा विराट्स्वरूप से सबका पालन-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ. (१०.३३)

अक्षयकाल को अकालपुरुष या कालनिरंजन भी कहा गया है. यह भगवान् कृष्ण का कालरूप है. काल का अर्थ समय या मृत्यु होता है.

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् उद्रवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर् वाक् च नारीणां स्मृतिर् मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मैं सबका नाश करनेवाली मृत्यु और भविष्य में होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हूँ. संसार की सात श्रेष्ठ देवियाँ, जो कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा की अधिष्ठात्रियाँ हैं, वे भी मैं ही हूँ. (१०.३४)

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसाम् अहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

मैं सामवेद के गाए जानेवाले मंत्रों में बृहत्साम, वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ. (१०.३५)

द्यूतं छलयताम् अस्मि तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम् ॥३६॥

मैं छलियों में जुआ, तेजस्वियों का तेज, तथा विजय, निश्चय और सात्त्विक मनुष्यों का सात्त्विक भाव हूँ. (१०.३६)

शुभ और अशुभ दोनों ही दिव्य शक्ति माया की उपज हैं. माया अनेक गुणों और दोषों को जन्म देती है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है. ज्ञानी लोग इसको विशेष महत्त्व नहीं देते. व्यक्ति को अच्छे गुणों का विकास करना चाहिए और दुर्गुणों का परित्याग. बोधि-प्राप्ति पर ही व्यक्ति अच्छे-बुरे, गुण-अवगुण दोनों से परे पहुँच जाता है, जैसे सूर्योदय के बाद ही अंधेरा विलीन हो जाता है. गुण और अवगुण दो पृथक्-पृथक् वस्तुएं नहीं, एक ही हैं; अन्तर केवल अभिव्यक्ति की सीमा का है. यह सच है कि प्रभु का वास पापियों में भी है, पर यह भी ठीक नहीं है कि हम उनके साथ सम्पर्क रखें या उनसे घृणा करें. गान्धी जी कहते हैं: पाप से घृणा करो, पापी से नहीं.

जीवन के विरोधी गुणों से भरी दिव्य सांसारिक लीला को व्यक्ति को सदा आनन्द भरे हृदय से देखना चाहिए. न कुछ अच्छा है न बुरा, बस दिव्य अभिनेता के विभिन्न मुखौटे हैं. वेदों ने जुआ, भेंट, घूस आदि अनैतिक साधनों द्वारा धनी होने के विचार की

निन्दा की है और ईमानदार श्रम, खून-पसीने से की गई कमाई, खेती आदि के काम का परामर्श दिया है, क्योंकि ऐसा करना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए श्रेयस्कर है (ऋ.वे. १०.३४.१३).

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनाम् अप्य् अहं व्यासः कवीनाम् उशना कविः ॥३७॥

मैं वृष्णिवंशियों में कृष्ण, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य हूँ. (१०.३७)

दण्डो दमयताम् अस्मि नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥३८॥

मैं दमन करनेवालों में दण्डनीति और विजय चाहनेवालों में नीति हूँ. मैं गोपनीय भावों में मौन और ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान हूँ. (१०.३८)

यच् चापि सर्वभूतानां बीजं तद् अहम् अर्जुन ।

न तद् अस्ति विना यत् स्यान् मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का बीज मैं ही हूँ, क्योंकि चर और अचर किसी का अस्तित्व मेरे बिना नहीं है (अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है). (७.१०, ९.१८ भी देखें.) (१०.३९)

एक विशाल वटवृक्ष अपनी अनेक शाखाओं, पत्तियों, फलों और बीजों के साथ अपने अप्रस्फुटित रूप में एक लघुतम बीज में समाहित रहता है और प्रस्फुटित रूप में बार-बार वृक्ष बनता है. पेड़ पुनः अव्यक्त रूप में बीज हो जाता है. इसी प्रकार सारा अभिव्यक्त जगत् अव्यक्त रूप से ब्रह्म में रहता है तथा सृष्टि-काल में व्यक्त और प्रलयकाल में अव्यक्त होता रहता है. फल बीज में विलुप्त रहता है और बीज फल में. इसी प्रकार प्रभु सृष्टि में है और सृष्टि प्रभु में.

सृष्टि परब्रह्म का लघुतम अंश मात्र है

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एष तद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर् विस्तरो मया ॥४०॥

हे अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का तो अन्त ही नहीं है. मैंने तुम्हें अपनी विभूतियों के विस्तार का वर्णन संक्षेप में किया है. (१०.४०)

विश्व में विविधता — उच्चतम देवशक्तियों से लेकर लघुतम कीट तक, यहां तक कि निष्क्रिय धूल भी — उस एक ही असीम परब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं.

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा ।

तत् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥४१॥

जो भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसे तुम मेरे तेज के एक अंश से ही उत्पन्न समझो. (१०.४१)

अपने ब्रह्मनाद संवेदन द्वारा, शब्द के माध्यम से, प्रभु ने सब चीजों को बनाया, एक भी वस्तु सृष्टि में नहीं, जो प्रभु की दिव्य शक्ति से न बनाई गई हो (जॉन १.०३). जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, वैसे ही जैसे धूप सूर्य से (भा.पु. ४.३१.१६). समस्त सृष्टि असीम की आंशिक अभिव्यक्ति और उसका अभिन्न अंग है. दिव्यशक्ति अपनी महिमा को सृष्टि द्वारा व्यक्त करती है. दृश्य लोक का सौंदर्य और भव्यता उसकी महिमा का मात्र एक लघु अंश है.

अथवा बहूनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

हे अर्जुन, तुम्हें बहुत जानने की क्या आवश्यकता है? मैं अपने तेज अर्थात् योगमाया के एक अंशमात्र से ही सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित रहता हूँ. (छा.उ. ३.१२.०६ भी देखें.) (१०.४२)

परिमाणात्मक दृष्टि से, समस्त व्यक्त सृष्टि उसका मात्र चतुर्थांश है (ऋ.वे. १०.६०.०३). विश्व अदृश्य प्रभु का दर्शन कराने के लिए मानवों के सामने दिव्य भव्यता प्रतिबिम्बित करता है. व्यक्ति को प्रभु की कल्पना-दर्शन न केवल मानव रूप या भव्य दर्शन रूप में करना सीखना चाहिए, वरन् विश्वरूप में व्यक्त उसकी भव्यता के माध्यम से भी और प्रकृति तथा जीवन को संचालन तथा नियंत्रण करनेवाले उसके दैवी नियमों के माध्यम से भी उसका दर्शन करना सीखना चाहिए. वह सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है.

इस प्रकार विश्रुतियोग नामक दसवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ एकादशोऽध्यायः

विराटरूपदर्शनयोगः

११. विराटरूपदर्शनयोग

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत् त्वयोक्तं वचस् तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले— आपने मुझपर कृपा करके जिस परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व को कहा, उससे मेरा भ्रम नष्ट हो गया है. (११.०१)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यम् अपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनयन कृष्ण, मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय तथा आपके अविनाशी माहात्म्य को विस्तारपूर्वक सुना. (११.०२)

प्रभुदर्शन भक्त का परम ध्येय

एवम् एतद् यथात्थ त्वम् आत्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर, आप अपने को जैसा कहते हैं, वह ठीक है; परन्तु हे पुरुषोत्तम, मैं आपके ईश्वरीय रूप को अपनी आंखों से देखना चाहता हूँ. (११.०३)

मन्यसे यदि तच् छक्यं मया द्रष्टुम् इति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानम् अव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो, यदि आप समझें कि मेरे द्वारा आपका विराटरूप देखा जाना संभव है; तो, हे योगेश्वर, आप अपने दिव्य विराटरूप का दर्शन दें. (११.०४)

प्रभु के दिव्य दर्शन (Psychic Vision) के अभाव में प्रभु में हुई आस्था का आधार दृढ़ नहीं होता. हमारी समस्त आध्यात्मिक साधना उस दिव्य दर्शन के ध्येय से की जाती है. हमारी आन्तरिक अपावनाता के अन्तिम शेष भाग के निवारण के लिए दिव्य दर्शन आवश्यक है, क्योंकि मानव-मन देखने के बाद ही विश्वास करता है. अन्य भक्तों की तरह अर्जुन भी भगवान् के दिव्य दर्शन की गहन कामना करता है.

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ, अब तुम मेरे अनेक तरह के और अनेक रंग तथा आकृतिवाले सैकड़ों-हजारों दिव्यरूपों को देखो. (११.०५)

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस् तथा ।

बहून्य अदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, मुझमें आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा अश्विनीकुमारों और मरुद्गणों को देखो तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यजनक रूपों को भी देखो. (११.०६)

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि ॥७॥

हे अर्जुन, अब मेरे शरीर में एक ही जगह पर स्थित हुए चर और अचर सहित सारे जगत् को तथा और जो कुछ देखना चाहते हो, उसे भी देख लो. (११.०७)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥८॥

परन्तु तुम अपनी इन आंखों से मुझे नहीं देख सकते हो, इसलिए मेरी योगशक्ति को देखने के लिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ (११.०८)

प्रभु को भौतिक नेत्रों से कोई नहीं देख सकता. उसका लोकातीत रूप हमारे दृष्टिक्षेत्र से बाहर है. जो अन्तःकरण में रहकर हमें नियंत्रित करता है, उनका रूप बुद्धि की अन्तर्दृष्टि की क्षमता से ही प्रकट होता है. जिन लोगों को उस प्रभु का दर्शन हो जाता है, वे अमर हो जाते हैं (कठ.उ. ६.०६). हम अपनी इन आंखों से दिव्यलोक के रंगों की सम्पूर्णता का पूरा दर्शन करने में वर्णान्ध लोगों की तरह असमर्थ हैं. परमप्रभु भगवान् कृष्ण का सौन्दर्य और महिमा देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है.

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को विराट् विश्वरूप का दर्शन कराना

संजय उवाच—

एवम् उक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपम् ऐश्वरम् ॥९॥

संजय बोले— हे राजन्, महायोगेश्वर हरि ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपने ऐश्वर्ययुक्त परम दिव्यरूप का दर्शन कराया. (११.०९)

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक मुख और नेत्रोंवाले, अनेक अद्भुत दृश्यवाले, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त, बहुत-सारे दिव्य शस्त्रों को हाथों में लिए हुए, दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य गन्ध का लेपन किए हुए, समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विराट् स्वरूप का दर्शन किया. (११.१०-११)

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपद् उत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस् तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में हजारों सूर्यों के एकसाथ उदय होने से उत्पन्न प्रकाश भी उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के जैसा शायद ही हो. (११.१२)

वह हमें प्रकाश के बारे में बताने आया. वह प्रकाश, जो दुनिया में आकर हर चीज का पोषण करता है (जॉन १.०६). हे प्रभु, लाखों सूर्य भी तुम्हारी तुलना नहीं कर सकते (ऋ.वे. ८.७०.०५). रॉबर्ट ऑपेनहाइमर ने प्रथम अणुबम के विस्फोट को देखकर यह श्लोक उद्धृत किया था.

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा ।

अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवसु तदा ॥१३॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान् के दिव्य शरीर में अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त परन्तु एक ही जगह एकत्रित सम्पूर्ण जगत् को देखा. (१३.१६, १८.२० भी देखें.) (११.१३)

प्रभुदर्शन के सब योग्य नहीं, न सब दीक्षित

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिर् अभाषत ॥१४॥

(भगवान् के विराट्स्वरूप को देखकर) अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्य के कारण उनका शरीर पुलकित हो गया. अर्जुन ने हाथ जोड़कर विराट्स्वरूप देव को (श्रद्धा और भक्ति सहित) सिर झुकाकर प्रणाम करके कहा. (११.१४)

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांसु तव देव देहे

सर्वांसु तथा भूतविशेषसंधान् ।

ब्रह्माणम् ईशं कमलासनस्थम्

ऋषींश्च सर्वान् उरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले— हे देव, मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं को, प्राणियों के अनेक समुदायों को, कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी, महादेवजी, समस्त ऋषिगण और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ. (११.१५)

अनेकबाह्दरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस् तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वेश्वर, आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ. हे विश्वरूप, मैं आपके न अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही. (११.१६) (ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सार्वभौमिक, अनादि, अनन्त है.)

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्

दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥१७॥

मैं आपके मुकुट, गदा और चक्र धारण किए सब ओर से प्रकाशमान् तेज के पुंज-जैसा; प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिवाले तथा नेत्रों द्वारा देखने में अत्यन्त कठिन और अपरिमित रूप को देख रहा हूँ. (११.१७)

त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं
 त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
 सनातनस् त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आप ही जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस विश्व के परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं, आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है। (११.१८)

अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम्
 अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
 पश्यामि त्वां दीप्तहुताशक्कं
 स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम् ॥१९॥

मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित तथा अनन्त प्रभावशाली और अनन्त भुजाओंवाले तथा चन्द्रमा और सूर्य की तरह नेत्रोंवाले और प्रज्वलित अग्निरूपी मुखोंवाले तथा अपने तेज से विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ। (११.१९)

द्यावापृथिव्योर् इदम् अन्तरं हि
 व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
 दृष्ट्वाद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदं
 लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन्, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का यह सम्पूर्ण आकाश तथा समस्त दिशाएँ केवल आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अलौकिक और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं। (११.२०)

तीन प्रमुख लोक हैं — ब्रह्माण्डाकाश में विष्णुलोक या क्षरलोक; परमाकाश में अक्षरलोक और चिदाकाश में परमधाम या कृष्णलोक, परमपिता का मुख्य निवास-स्थान।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
 केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
 स्वस्तीत्य् उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
 स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

समस्त देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं; और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणों का कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय "कल्याण हो, कल्याण हो" कहकर उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं। (११.२१)

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
 विश्वेऽश्विनौ मरुतश् चोष्मपाश्च ।
 गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
 वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश् चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण— ये सब चकित होकर आपको देख रहे हैं। (११.२२)

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहुरुपादम् ।
बहदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितासु तथाऽहम् ॥२३॥

हे महाबाहो, आपके बहुत मुखों तथा नेत्रोंवाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं तथा पैरोंवाले, बहुत पेटों तथा बहुत-सी भयंकर दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ. (११.२३)

एक ही यह सब हो गया है. सब रूप, मुख, सिर, पाद, नेत्र आदि उसी के हैं.

विराट् विश्वरूप दर्शन से अर्जुन को भय

नभःस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शर्म च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णु, आकाश को छूते हुए देदीप्यमान्, अनेक रंगोंवाले, फैले हुए मुख और प्रकाशमान् विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूँ तथा धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूँ. (११.२४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके विकराल दाढ़ोंवाले, प्रलय की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है. इसलिए हे देवेश, हे जगत् के पालन कर्ता, आप प्रसन्न हों. (११.२५)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंचैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस् तथासौ
सहास्मदीयैर् अपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद् विलम्बा दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैर् उत्तमाङ्गैः ॥२७॥

राजाओं के समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धागण-सहित धृतराष्ट्र के सभी पुत्र बड़ी तेजी से आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं. उनमें से कुछ तो चूर्णित शिरों सहित आपके दांतों के बीच में फंसे हुए दीख रहे हैं. (११.२६-२७)

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रम् एवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्य् अभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बहुत सारे जल के प्रवाह स्वाभाविक रूप से समुद्र की ओर जाते हैं, वैसे ही संसार के शूरवीर भी आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं. (११.२८)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्
तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंगे अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं. (११.२९)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तालु
लोकान् समग्रान् वदनैर् ज्वलद्भिः ।
तेजोभिर् आपूर्य जगत् समग्रं
भासस् तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आप सब लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रास करते हुए सब ओर से चाट रहे हैं; और हे विष्णु, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रहा है. (११.३०)

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

(कृपया) मुझे यह बताएं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ, आपको मेरा नमस्कार, आप मुझसे प्रसन्न हों. हे आदि पुरुष, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपका प्रयोजन नहीं समझ पा रहा हूँ. (११.३१)

हम सब दैवी निमित्त मात्र

श्रीभगवानुवाच—
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समार्हर्तुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले— मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करनेवाला महाकाल हूँ और इस समय इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहां आया हूँ. तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किए बिना भी जिन्दा नहीं रहेंगे. (११.३२)

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वम् एव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अतः तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ और यश को प्राप्त करो; शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न राज्य भोगो. ये सब योद्धा पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं. हे अर्जुन, तुम केवल निमित्त ही हो. (११.३३)

हे अर्जुन, यह मेरा संग्राम है, तुम्हारा नहीं। मैं तुम्हारा उपयोग करता हूँ, मात्र माध्यम की भाँति। तुम्हारे शरीर के माध्यम से मैं ही सब कुछ करता हूँ, व्यक्ति को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारे जीवन के सभी संग्राम प्रभु के हैं, हमारे नहीं। कुरआन ने भी कहा है: तुम मात्र एक माध्यम हो, अल्लाह ही सब चीजों का नियंता है (सूरा ११.१२)। सब कुछ प्रभु की इच्छा और शक्ति से होता है। कोई भी प्रभु की इच्छा और शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। वह प्रभु ही है, जो व्यक्ति को भौतिक या आध्यात्मिक जीवन के लिए अधीर बनाता है। जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ है, वे भ्रमवश अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा मानकर अपने गलत काम का समर्थन करते हैं।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथा न्यान् अपि योधवीरान् ।
मया हतांसु त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-सारे मेरे द्वारा मारे हुए वीर योद्धाओं को तुम मारो। भय मत करो, निस्सन्देह तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे। इसलिए युद्ध करो। (११.३४)

अर्जुन द्वारा विश्वरूप की वन्दना

संजय उवाच—
एतच् छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर् वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय बोले— भगवान् कृष्ण के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी और अत्यन्त भयभीत अर्जुन ने हाथ जोड़कर कांपते हुए नमस्कार करके गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण से कहा। (११.३५)

अर्जुन उवाच—
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्य् अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे अन्तर्यामी भगवन्, यह सब उचित ही है कि आपके (नाम, गुण, लीला आदि के) कीर्तन से जगत् हर्षित होकर अनुराग को प्राप्त हो रहा है। भयभीत राक्षस लोग सभी ओर भाग रहे हैं तथा सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। (११.३६)

कस्माच् च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्य् आदिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वम् अक्षरं सद् असत् तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मा, वे आपको — जो ब्रह्माजी से भी बड़े और आदिकर्ता हैं — कैसे नमस्कार न करें? क्योंकि हे अनन्त, हे देवेश, हे जगत् के पालनकर्ता, जो सत्, असत् और इन दोनों से परे परब्रह्म है, वह आप ही हैं। (९.१९, १३.१२ भी देखें।) (११.३७)

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणस्
 त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
 त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप ॥३८॥

आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप ही जगत् के आधार, सबको जाननेवाले, जानने योग्य तथा परमधाम हैं। हे अनन्तरूप, यह सारा संसार आपसे ही व्याप्त है। (११.३८)

वायुर् यमोऽग्निर् वरुणः शशाङ्कः
 प्रजापतिस् त्वं प्रपितामहश्च ।
 नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
 पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति ब्रह्मा और ब्रह्मा के पिता भी हैं। आपको हमारा सहस्र बार नमस्कार, नमस्कार और फिर बारम्बार नमस्कार है। (११.३९)

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस् ते
 नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
 अनन्तवीर्यामितविक्रमस् त्वं
 सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले भगवन्, आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार। हे सर्वार्त्मान्, आपको सब ओर से नमस्कार। आप अनन्त साहसी और शक्तिशाली हैं। सबमें व्याप्त रहने के कारण सब कुछ तथा सब जगह आप ही हैं। (११.४०)

सखेति मत्वा प्रसभं यद् उक्तं
 हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
 अजानता महिमानं तवेदं
 मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे भगवन्, आपकी महिमा को न जानने के कारण, आपको सखा मानकर, प्रेम से अथवा लापरवाही से मैंने "हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे," आदि कहा है। (११.४१)

यच् चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि
 विहारशय्यासनभोजनेषु ।
 एकोऽथवाप्य् अच्युत तत्समक्षं
 तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥४२॥

और, हे अच्युत, आप मेरे द्वारा हंसी में, खेलने, सोने, बैठने और भोजन के समय अकेले में अथवा दूसरों के सामने भी जो अपमानित किए गए हैं, उन सबके लिए, हे अपरिमित भगवन्, मैं आपसे क्षमा मांगता हूं। (११.४२)

पितासि लोकस्य चराचरस्य
 त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुर् गरीयान् ।
 न त्वत्समोऽस्त्य् अभ्यधिकः कुतोऽन्यो
 लोकत्रयेऽप्य् अप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

आप इस चराचर जगत् के पिता और सर्वश्रेष्ठ पूजनीय गुरु हैं. हे अतिशय प्रभाववाले, तीनों लोकों में आपके जैसा दूसरा कोई भी नहीं है, फिर आपसे बड़ा कौन है ? (११.४३)

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए हे भगवन्, मैं आपके चरणों में साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूँ. हे देव, जैसे पिता पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और पति पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए. (११.४४)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तद् एव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं आपके पहले कभी नहीं देखे जानेवाले इस रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ तथा भय से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है. अतः हे देवेश, हे जगत् के आश्रय, आप प्रसन्न हों और मुझे अपना (चतुर्भुज) देवरूप दिखाइए. (११.४५)

प्रभु के साकार रूप का दर्शन सम्भव है

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

मैं आपको मुकुट धारण किए हुए तथा गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ. इसलिए हे विराटरूप, हे सहस्रबाहो, आप अपने चतुर्भुजरूप में प्रकट हों. (११.४६)

श्रीभगवानुवाच—
मया प्रसन्नैः तवार्जुनेन
रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं
यन् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, तुमसे प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगमाया के बलसे अपना यह परम, तेजोमय, विराट्, अनन्त और मूलरूप तुम्हें दिखाया है, जिसे तुमसे पहले किसीने नहीं देखा है. (११.४७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर् न दानैर्
न च क्रियाभिर् न तपोभिर् उग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नूलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर, तुम्हारे सिवा इस मनुष्यलोक में किसी दूसरे के द्वारा न वेदों के पढ़ने से, न यज्ञ से, न दान से, न उग्र तप से और न वैदिक क्रियाओं द्वारा ही मैं इस रूप में देखा जा सका हूँ. (११.४८)

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
 दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृङ्ममेदम् ।
 व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस् त्वं
 तद् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुम्हें व्याकुल और विमूढ नहीं होना चाहिए. निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर अब तुम मेरे (शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए) चतुर्भुजरूप को देखो. (११.४९)

संजय उवाच—

इत् अर्जुनं वासुदेवस् तथोक्त्वा
 स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
 आश्वासयामास च भीतम् एनं
 भूत्वा पुनः सौम्यवपुर् महात्मा ॥५०॥

संजय बोले— भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कहकर उसे अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर सुहावना मनुष्यरूप धारणकर महात्मा कृष्ण ने भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया. (११.५०)

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
 इदानीम् अस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, आपके इस सुन्दर मनुष्यरूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ. (११.५१)

भक्ति द्वारा प्रभुदर्शन

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शम् इदं रूपं दृष्ट्वानसि यन् मम ।
 देवा अप्य् अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान् बोले— मेरे जिस चतुर्भुजरूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है. देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं. (११.५२)

नाहं वैदेर् न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा ॥५३॥

उस चतुर्भुजरूप में जैसा तुमने देखा है मैं न वेदों के पढ़ने से, न तप से, न दान से और न यज्ञ करने से ही देखा जा सकता हूँ. (कठ.उ. २.२३ भी देखें.) (११.५३)

केवल यज्ञ या सेवा द्वारा सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाना सम्भव नहीं है (ऋ.वे. ८.७०.०३, अथ.वे. २०.६२.१८). प्रभु का सर्वविद्यमान रूप इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता, उसके लिए अन्तर्दृष्टि और विश्वास चाहिए. दिव्यदर्शन और योगशक्ति प्रभु की कृपा और विशिष्ट वरदान हैं, जो बिना मांगे भी दिए जा सकते हैं, जब प्रभु व्यक्ति को सेवा में उसका उपयोग करने के लिए उपयुक्त पाते हैं. सन्त रामदास के अनुसार परम सत्य, भगवान् कृष्ण, की प्राप्ति से पूर्व व्यक्ति को प्रकाश और रूप के सब दिव्यदर्शनों से ऊपर जाना होता है. दिव्यदर्शन मात्र मार्गप्रस्तर हैं, ध्येय नहीं. उनसे चिपके न रहो. आध्यात्मिक यात्रा के मार्ग में योगसिद्धियाँ भी बाधा बन सकती हैं.

भक्त्या त्व् अनन्यया शक्य अहम् एवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे परन्तप अर्जुन, केवल अनन्यभक्ति के द्वारा ही मैं उस चतुर्भुजरूप में देखा, तत्त्व से जाना तथा प्राप्त भी किया जा सकता हूँ: (११.५४)

मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गावर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स माम् एति पाण्डव ॥५५॥

हे अर्जुन, जो मनुष्य केवल मेरे ही लिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करता है, मुझे पर ही भरोसा रखता है, मेरा भक्त है तथा जो आसक्तिरहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है. (८.२२ भी देखें.) (११.५५)

इस प्रकार विराट् रूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ द्वादशोऽध्यायः

भक्तियोगः

१२. भक्तियोग

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास् त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्य् अक्षरम् अव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले— जो भक्त सतत युक्त होकर पूर्वोक्त प्रकार से (आपके इस कृष्णस्वरूप सगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं और जो भक्त मन और वाणी से परे (अव्यक्त) अक्षर ब्रह्म को निराकार मानकर उसकी उपासना करते हैं, उन दोनों में कौन उत्तम योगी है. (१२.०१)

साकार की उपासना करें या निराकार ब्रह्म की ?

श्रीभगवानुवाच—

मय्य् आवेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास् ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— जो भक्तजन मुझमें मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर मुझे परब्रह्म परमेश्वर के (कृष्णस्वरूप) सगुण रूप की उपासना करते हैं, वे मेरे मत से श्रेष्ठ हैं. (६.४७ भी देखें.) (१२.०२)

भक्ति प्रभु के प्रति सर्वोच्च प्रेम है (शा.भ.सू. ०२). सच्ची भक्ति प्रभु को पाने के लिए प्रभु के प्रति गहनतम निःस्वार्थ प्रेम है (ना.भ.सू. ०२). सच्ची भक्ति प्रभुकृपा की खोज और प्रभु को प्रसन्न करने के लिए की गई प्रेमभरी सेवा है. हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम रखते हुए अपने कर्तव्य का पालन, अथवा सेवा ही भक्ति है. यह भी कहा गया है कि भक्ति का वरदान भी भगवत्कृपा से मिलता है. प्रभु के साथ प्रेम-सम्बन्ध का विकास व्यक्तिगत देवता के माध्यम से सरलता से होता है. राम, कृष्ण, मोजेज, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि मानव-स्वरूप में अवतरित व्यक्तिगत भगवान् की भक्ति के मार्ग का निष्ठापूर्वक अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठतम समझे जाते हैं. बाइबिल का कथन है— मैं ही मार्ग हूँ, कोई भी व्यक्ति परमपिता को मेरे माध्यम से ही जा सकता है, नहीं तो नहीं (जॉन १४.०६). भक्ति आत्मज्ञान से श्रेष्ठतर है (शा.भ.सू. ०५).

भक्ति, अर्थात् भगवान् के प्रति गहन प्रेम, के अभाव में सभी योग — कर्म, ज्ञान, ध्यान आदि — व्यर्थ हैं. आत्मज्ञान की मोती आस्था और भक्ति के सीपी के भीतर ही जन्म लेती है. रामानुज ने कहा है कि जो साकार की उपासना करते हैं, वे अपने गन्तव्य पर शीघ्र और सुगमता से पहुंचते हैं. सभी प्राणी तथा प्रभु से प्रेम करना सभी धर्मों में सिखाया

गया है. बाइबिल कहती है— तुम अपनी आत्मा से, हृदय से और मन से प्रभु को प्यार करोगे तथा दूसरों को अपने ही जैसा प्यार करोगे (मैत्थ्यु २२.३७-३९).

ये त्व् अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति माम् एव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो मनुष्य अक्षर, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अपरिवर्तनशील, अचल और सनातन ब्रह्म की उपासना इन्द्रियों को अच्छी तरह नियमित करके, सभी में समभाव होकर, भूतमात्र के हित में रत रहकर करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त करते हैं. (१२.०३-०४)

साकार की उपासना के कारण

क्लेशोऽधिकतरस् तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर् दुःखं देहवद्भिर् अवाप्यते ॥५॥

परन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्तवाले मनुष्यों को (साधना में) क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देधारियों द्वारा अव्यक्त की गति कठिनाई-पूर्वक प्राप्त होती है. (१२.०५)

परमप्रभु की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत भगवान् की दिव्य प्रतिमा की पूजा और उसपर प्रेमभरा मनन और ध्यान पहला अनिवार्य पग है. यह भी कहा गया है कि प्रभु के व्यक्तिगत रूप की भक्ति व्यक्ति को प्रभु के इन्द्रियातीत रूप की ओर ले जाती है. प्रभु न केवल लोकातीत सर्वशक्तिमान् है, वरन् सब प्राणियों में उनका स्वत्व है, आत्मा है.

अपने इष्टदेव के रूप में प्रभु की व्यक्ति-रूप में की गई पूजा दिव्य प्रेम के लिए प्रेरित करती है, जो समुचित अवधि में आत्मानुभूति और एकता को जाग्रत् करती है. अन्तर्यामी सर्वव्यापी प्रभु में मन लगाने तथा मनन-ध्यान करने पर अनुभवातीत लोकोत्तर प्रभु व्यक्ति की अन्तरात्मा पवित्र होने पर प्रकट होता है.

भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग — दोनों ही मार्गों की उच्चतम अवस्था में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है. अनुभूति की उच्चतम अवस्था में वे दोनों एक दूसरे में विलीन होकर एक हो जाते हैं. दूसरे सन्त भी अधिकांश व्यक्तियों — विशेषकर नौसिखियों — के लिए भक्तिमार्ग को दोनों मार्गों में सुगमतर मानते हैं. तुलसीदास के अनुसार ज्ञानमार्ग पूर्णतः समझने, समझाने और अनुसरण करने में बहुत कठिन है. ज्ञानमार्ग से गिरते भी देर नहीं लगती (तु.रा. ७.११८.००). अगले दो श्लोकों में प्रभु कहते हैं कि भक्ति का मार्ग सुगमतर ही नहीं, ज्ञानमार्ग से अधिक द्रुतगामी भी है.

व्यक्तिगत या अवैयक्तिक, भौतिक या लोकोत्तर रूप — वास्तव में परम सत्य के (एक ही) सिक्के के दो पहलू हैं. श्री रामकृष्ण ने कहा है— “आरम्भ में प्रतिमा-पूजा अनिवार्य है, बाद में नहीं, वैसे ही जैसे किसी भवन के निर्माण में पहले पटड़े जरूरी हैं.” व्यक्ति को पहले अपना ध्यान और मन साकार निजी प्रभु पर लगाना चाहिए और वैसे करने में सफल होने के बाद ही लोकोत्तर दिव्यरूप पर. सब प्राणियों में प्रभु की अपनी ही सत्ता की अनुभूति से ही उच्चतम मुक्ति सम्भव है. और वह निजी इष्टदेव की भक्ति की प्रौढ़ता तथा प्रभु की कृपा से ही मिलती है. यह अनुभूति दूसरा आध्यात्मिक जन्म है, या ईसा का दूसरा आगमन. ईसा ने कहा है: परमपिता का राज्य धरती पर फैला है, परन्तु लोग देखते नहीं.

कोई भी आध्यात्मिक साधना जब ज्ञान, विश्वास और अपने इष्टदेव की प्रतिमा में ध्यान के साथ की जाती है, तब अधिक शक्तिशाली हो जाती है (छा.उ. १.०१.१०). तपस्या, साधना, प्रार्थना, दान, प्रायश्चित्त, यज्ञ, व्रत तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान भगवान् राम की करुणा को उस सीमा तक नहीं जगाते, जितना विशुद्ध भक्ति (तु.रा. ६.११७.००). भक्ति के चुम्बक से प्रभु को आकर्षित करना सरल हो जाता है.

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात् पार्थ मय्य् आवेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो भक्त मुझको ही अपना परम लक्ष्य मानते हुए सभी कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्यभक्ति के द्वारा मेरे साकार रूप का ध्यान करते हैं, ऐसे भक्तों का जिनका चित्त मेरे सगुण स्वरूप में स्थिर रहता है, मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ. (१२.०६-०७)

अविचल प्रेम और भक्ति की नौका की सहायता से व्यक्ति आवागमन का महासागर सरलता से पार कर लेता है (तु.रा. ७.१२२.००).

ईश्वर-प्राप्ति के चार मार्ग

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

तुम मुझमें ही अपना मन लगाओ और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन करो, इसके उपरान्त निस्संदेह तुम मुझमें ही निवास करोगे. (१२.०८)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो माम् इच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

हे धनंजय, यदि तुम अपने मन को मुझमें स्थिर करने में असमर्थ हो, तो तुम (पूजा, पाठ आदि के) अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करो. (१२.०९)

भक्ति को बढ़ाने के लिए प्रभु के प्रतीकों के उपयोग द्वारा व्यक्तिगत प्रभु की मानसिक प्रतिमा को सहायक सामग्री के रूप में प्रयोग करते हुए अपने मन को सतत रूप से केन्द्रित करो, लगाओ, मननशील रहो.

अभ्यासेऽप्य् असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तुम अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो मेरे लिए अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करो, कर्मों को मेरे लिए करते हुए तुम मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि पाओगे. (९.२७, १८.४६ भी देखें.) (१२.१०)

अथैतद् अप्य् अशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगम् आश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि इसे भी करने में तुम असमर्थ हो, तो मुझपर आश्रित होकर, मन पर विजय प्राप्त कर, सब कर्मों के फल की आसक्ति का त्याग करो. (१२.११)

१२.०८-११ श्लोकों का मूल अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को प्रभु के साथ कोई आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए — जैसे प्रजनक, पिता, माता, प्रियतम, वत्स, रक्षक, गुरु, स्वामी, नौकर, सहायक, अतिथि, मित्र और यहां तक कि शत्रु का भी सम्बन्ध.

कर्मयोग का सरल और सर्वोत्तम मार्ग

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाज् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस् त्यागाच् छान्तिर् अनन्तरम् ॥१२॥

मर्म जाने बिना अभ्यास करने से शास्त्रों का ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से परमात्मा के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है, और सब कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है. (१२.१२)

भक्त के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो मनुष्य सभी प्राणियों से द्वेषरहित है, सबका प्रेमी है, दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, सुख और दुःख में सम, क्षमाशील और संतुष्ट है; जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके मुझमें दृढनिश्चय होकर अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पण करके सदा मेरा ही ध्यान करता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१३-१४)

प्रभु के साथ एकात्म होने के लिए व्यक्ति को नैतिक गुणों को विकसित करते हुए प्रभु के समान ही पूर्ण होना होगा. बाइबिल का कथन है— स्वयं को उसी प्रकार परिपूर्ण करो, जैसा कि स्वर्ग में परमपिता परिपूर्ण है (मैत्थ्यु ५.४८). सन्त तुलसीदास कहते हैं: हे प्रभु, जिसे आपकी कृपा का वरदान मिलता है, वह परिपूर्णता का महासागर हो जाता है. काम, क्रोध, मद, मोह तथा लोभ का दस्यु-दल तभी तक मन को यातना देता है, जब तक कि अन्तरात्मा में प्रभु का वास नहीं होता. भक्ति के दो अनन्य सफल साधन हैं — सद्गुण और अनुशासन. आदर्श भक्त अथवा ब्रह्मज्ञानी के गुणों का वर्णन करते हुए सद्गुणों और सद्मूल्यों की सूची श्लोक १२.१३-१६ में दी गई है.

यस्मान् नोद्विजते लोको लोकान् नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर् मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग प्राप्त नहीं करता तथा जो स्वयं भी किसीसे उद्विग्न नहीं होता; जो सुख, दुःख, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है. (१२.१५)

अनपेक्षः शुचिर् दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो आकांक्षा-रहित, शुद्ध, कुशल, पक्षपात से रहित, सुखी और सभी कर्मों में अनासक्त है, वैसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१६)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न किसी से द्वेष करता है, न सुख में हर्षित होता है और न दुःख में शोक करता है; जो कामना-रहित है तथा शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल का त्याग करनेवाला है, वैसा भक्तियुक्त मनुष्य मुझे प्रिय है. (१२.१७)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर् मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर् भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी तथा सुख और दुःख में सम है; जो आसक्ति-रहित है, जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हैं, जो कम बोलता है, जो कुछ हो उसीमें संतुष्ट है, जिसे स्थान में आसक्ति नहीं है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है. (१२.१८-१९)

व्यक्ति निष्ठापूर्वक दैवी गुण पाने का यत्न करे

ये तु धर्म्यामृतम् इदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास् तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो श्रद्धधानान् भक्त मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर उपरोक्त धर्ममय अमृत का जीवन जीते हैं, वे तो मुझे बहुत ही प्रिय हैं. (१२.२०)

उच्च कोटि के भक्तों की भगवान् से कोई चाह नहीं होती, मुक्ति की भी नहीं. उनकी बस एक ही वरदान की कामना होती है— जन्म-जन्मान्तर में प्रभु राम के चरण-कमलों की भक्ति की (तु.रा. २.२०४.००). निम्नकोटि के भक्त अपनी भौतिक मांगों और कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान् का उपयोग नौकर की तरह करते हैं. प्रभु के कमल-चरणों में अविचल प्रेम और भक्ति का विकास ही समस्त आध्यात्मिक साधनों और पुण्य कर्मों का अन्तिम ध्येय है और मानव-जन्म का उद्देश्य भी. सच्चा भक्त स्वयं को सेवक और प्रभु को स्वामी मानता है तथा समस्त सृष्टि को प्रभु का शरीर.

अधिकतर प्राणियों के लिए भक्ति श्रेष्ठतर मार्ग है, किन्तु भक्ति निजी प्रयास, आस्था और प्रभु की कृपा के बिना विकसित नहीं होती. प्रभुप्रेम के विकास की नौ विधियाँ, जिन्हें नवधा भक्ति कहा जाता है, तुलसी रामायण (तु.रा. ३.३४.०४-३.३५.०३) के अनुसार हैं— (१) सत्संग — सन्तों और ज्ञानियों का साथ, (२) श्रवण — प्रभु की महिमा, प्रभु का अवतार और रामायण, महाभारत, भागवत महापुराण आदि शास्त्रों में वर्णित प्रभु की सृष्टि, पोषण और प्रलय सम्बन्धी लीलाओं की कथा का सुनना, सुनाना, (३) सेवा — गुरु, दीनों, सन्तों और समाज की सेवा के माध्यम से प्रभु की सेवा करना, (४) संकीर्तन — प्रभु की महिमा का सामूहिक कीर्तन-गान, (५) स्मरण — दृढ़ विश्वास के साथ मंत्र और राम-नाम का जप, (६) संयम — छः इन्द्रियों पर अनुशासन और नियंत्रण तथा अनासक्ति, (७) सियाराममय सर्वः — सर्वत्र और सब वस्तुओं में प्रभु का ही दर्शन, (८) सन्तोष — लोभ के अभाव के साथ-साथ दूसरों के दोषों को न देखने का भाव तथा (९) सरलता और क्रोध, ईर्ष्या, धृणा आदि का अभाव. श्रेष्ठतम कार्य जो व्यक्ति को करना चाहिए वह है — प्रभुप्रेम का विकास. भगवान् राम कहते हैं: प्रभुप्रेम के विकास के लिए और भक्त बनने के लिए मानव को श्रद्धापूर्वक उपरोक्त विधियों में से किसी एक का भी पालन करना सीखना चाहिए.

प्रभु-प्राप्ति के लिए साधु-सन्तों का समागम (सत्संग) अत्यन्त शक्तिशाली साधन है. कहा गया है कि मैत्री, संवाद, व्यवहार और विवाह बराबरवालों से या उनसे, जो श्रेष्ठतर हैं, होना चाहिए, निम्न कोटि के लोगों से नहीं (म.भा. ५.३३.११७). व्यक्ति की पहचान उसके साथियों से होती है. स्वामी प्रभुपाद के अनुसार भक्तिमार्ग का पालन करना अत्यन्त सहज और सरल है. कोई भी उसे मंत्र के जप से शुरू कर सकता है. जल का एक बिन्दु, चाहे वह किसी भी मार्ग का अनुसरण करे, अन्ततः सागर तक पहुँच ही जाता है.

इस प्रकार भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ त्रयोदशोऽध्यायः
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम् इत्य् अभिधीयते ।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विद्वः ॥११॥

श्रीभगवान् बोले— हे कुन्तीनन्दन अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इस क्षेत्र को जानता है, उसे ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं. (१३.०१)

जो भी यहां इस शरीर में है, वही वहां ब्रह्माण्ड में है, अन्तरिक्ष में है; जो भी वहां है, वही यहां है (कठ.उ. ४.१०). मानवीय शरीर वृहत्तर ब्रह्माण्ड की ही प्रतिकृति है.

सृष्टि-सिद्धान्त

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्ध्य सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् ज्ञानं यत् तज् ज्ञानं मतं मम ॥१२॥

हे भरतवंशी अर्जुन, मुझे तुम सभी क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ जानो. मेरे मत से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है. (१३.०२)

शरीर (सृष्टि) और आत्मा (स्रष्टा) एक दूसरे से भिन्न हैं. किन्तु अज्ञानी लोग उनमें अन्तर करने में समर्थ नहीं हैं. वह ज्ञान, जिससे व्यक्ति शरीर और आत्मा के भेद को स्पष्ट करने में समर्थ होता है, सच्चा ज्ञान है.

तत् क्षेत्रं यच्च च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥३॥

क्षेत्र क्या है, कैसा है, इसका स्रोत कहां है, इसकी विभूतियां क्या हैं; तथा क्षेत्रज्ञ क्या है, उसकी शक्तियां क्या हैं, वह सब संक्षेप में सुनो. (१३.०३)

ऋषिभिर् बहुधा गीतं छन्दोभिर् विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर् विनिश्चितैः ॥४॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से बताया गया है तथा नाना प्रकार के वेदमंत्रों और ब्रह्मसूत्र के युक्तियुक्त पदों द्वारा भी विस्तारपूर्वक कहा गया है. (१३.०४)

गीता भी अन्य शास्त्रों के सत्य को प्रतिपादित करती है. सारे शास्त्र और सब धर्मों के समस्त सन्त-मुनि उसी एक परम सत्ता ब्रह्म के सागर से सत्य का जल ग्रहण करते हैं. व्यक्ति की आवश्यकताओं और देशकालगत समाज के अनुकूल उनका स्वर व्याख्या या बल भिन्न होते हैं.

महाभूतान्य् अहंकारो बुद्धिर् अव्यक्तम् एव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारम् उदाहृतम् ॥६॥

अव्यक्त, अर्थात् आदि प्रकृति, महत्त्व, अहंकार तत्त्व, पांच महाभूत, दस इन्द्रियां, मन, पांचो ज्ञानेन्द्रिय के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल शरीर, चेतना तथा धैर्य— इस प्रकार विभूतियों के सहित क्षेत्र का वर्णन संक्षेप में किया गया है. (७.०४ भी देखें.)

(१३.०५-०६)

सांख्य-सिद्धान्त (भा.पु. ३.२६.१०-१८, ११.२२.१०-१६) के अनुसार ब्रह्म निम्न क्रम के अनुसार पच्चीस मूल तत्त्वों में रूपान्तरित होता है—पुरुष (चेतना, काल, ईश्वर) तथा आदि प्रकृति (महत्) के निम्न चौबीस रूपान्तर— चार अन्तःकरण (मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार); पांच मूल तत्त्व (महाभूत) (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी); पांच ज्ञान पदार्थ (तन्मात्रा) (ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और घ्राण); पांच ज्ञानेन्द्रिय (कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका); तथा पांच कर्मेन्द्रियां (मुख, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय)।

शरीर में किए गए विभिन्न कर्मों के अनुसार महत् विभिन्न नामों से जाना जाता है। अनुभूति और चिन्तन करते समय वह मनस् है; तर्क-वितर्क और विचार करते समय वह बुद्धि है। जब वह स्मरण कार्य करता है या एक विचार से दूसरे विचार की ओर भ्रमण करता है, तब चित्त कहलाता है; और जब वह कर्ता और व्यक्तित्व की अनुभूति करता है, तब अहंकार कहलाता है। अन्तःकरण (सूक्ष्मेन्द्रिय) शब्द इन चारों — मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार — के लिए प्रयुक्त होता है। वास्तव में संस्कार ही हैं, जो मनस् और बुद्धि की सहायता से अन्तिम निर्णय लेते हैं। जब महत् शरीर में कर्म करता है, तब वह प्राण कहलाता है। आइंस्टाइन के अनुसार मनस् (Mind) और भौतिक पदार्थ (Matter) दोनों ही ऊर्जा हैं। रमण महर्षि का कथन है—मन ऊर्जा का एक रूप है। वह स्वयं को विश्व के रूप में प्रकट करता है।

निर्वाण-साधन के रूप में चतुर्विध आर्षसत्य

अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा क्षान्तिर् आर्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अपने में मान और दिखावे का न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता, मन का वश में होना; इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अहंकार का अभाव तथा जन्म, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना; (१३.०७-०८)

गीता का श्लोक १३.०८ बौद्धधर्म की आधारशिला है। जन्म, मरण, रोग और मृत्यु में अन्तर्निहित यंत्रणा, पीड़ा और दुःख का सतत मनन और ज्ञान ही बौद्धधर्म में चार आर्षसत्य कहे गए हैं। आध्यात्मिक यात्रा करने से पूर्व इस सत्य का स्पष्ट ज्ञान तथा अनुभूति अनिवार्य है। आध्यात्मिक यात्रा से पहले संसार और इसके पदार्थों की निस्सारता और अवास्तविकता के प्रति जुगुप्सा और असंतोष आवश्यक हैं। जैसे पक्षी थका होने पर ही वृक्ष की शरण ढूंढता है, वैसे ही मानव भौतिक अस्तित्व की कुंठा, निराशा और हर्ष-विहीनता की अनुभूति के बाद ही दैवी शरण की खोज करता है।

असक्तिर् अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अब्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् अज्ञानं यद् अतोऽन्यथा ॥११॥

आसक्तिरहित होना; पुत्र, स्त्री, घर आदि में ममता का न होना; प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सम रहना, मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अटल भक्ति का होना, एकान्त में रहना,

संसारी मनुष्यों के समाज से अरुचि, अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति में संलग्न रहना, और तत्त्वज्ञान द्वारा सर्वत्र परमात्मा को ही देखना—यह सब ज्ञान (प्राप्ति के साधन) है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहा गया है. (१३.०९-११)

जब व्यक्ति को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि प्रभु ही सब कुछ हैं — माता, पिता, बन्धु, मित्र, शत्रु, पालक, विनाशक और शरण — तथा प्रभु से बड़ा कुछ भी पाने को नहीं है और जब उसके मन में किसी और वस्तु का विचार नहीं आता, तब यह कहा जाता है कि उस व्यक्ति में मन की एकाग्रता से किए गए प्रभु के चिन्तन-मनन द्वारा प्रभु की अविचल भक्ति का विकास हुआ है. मन की इस अवस्था में साधक और साध्य, प्राप्तकर्ता और प्राप्य, गुणात्मक दृष्टि से एक और वही हो जाते हैं. 'अनन्य' शब्द का प्रयोग श्लोक ८.१४, ८.२२, ६.१३, ६.२२, ६.३०, ११.५४, १२.०६ और १३.१० में किञ्चित् भिन्न अर्थों में हुआ है.

दृष्टान्त कथा द्वारा ही प्रभु का वर्णन सम्भव

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते ।

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन् नासद् उच्यते ॥१२॥

मैं तुम्हें जानने योग्य वस्तु अर्थात् परमात्मा के बारे में अच्छी तरह कहूंगा, जिसे जानकर मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है. वह अनादि परब्रह्म परमात्मा न सत् (अर्थात् अक्षर या अविनाशी) है, न असत् (अर्थात् क्षर या नाशवान्) है. (वह इन दोनों से परे, अक्षरातीत, है.) (९.१९, ११.३७, १५.१८ भी देखें.) (१३.१२)

आदि में न सत् था, न असत्; न आकाश था, न वायु; न दिन था, न रात. परब्रह्म अथवा सच्चिदानन्द को छोड़कर कुछ भी नहीं था (ऋ.वे. १०.१२६.०१). परब्रह्म क्षर पुरुष (नारायण अथवा असत्) और अक्षर पुरुष अथवा सत् दोनों से परे है (श्लोक १५.१८). अतः वह सत् है न असत्, बल्कि सत् और असत् दोनों से परे, अक्षरातीत है. परब्रह्म सत् भी है और असत् भी (श्लोक ६.१६) और सत् और असत् से परे भी (श्लोक ११.३७), क्योंकि वह सर्वत्र है, सब कुछ है और सब पदार्थों से परे भी है.

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥

उसके हाथ और पैर सब जगह हैं; उसके नेत्र, सिर, मुख और कान भी सब जगह हैं; क्योंकि वह सर्वव्यापी है. (ऋ.वे. १०.८१.०३, श्वे.उ. ३.१६ भी देखें.) (१३.१३)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच् चैव निर्गुणं गुणभोक्तु च ॥१४॥

वह (प्राकृत) इन्द्रियों के बिना भी (सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा) सभी विषयों का अनुभव करता है. सम्पूर्ण संसार का पालन-पोषण करते हुए भी आसक्तिरहित है तथा प्रकृति के गुणों से रहित होते हुए भी (जीवरूप धारण कर) गुणों का भोक्ता है. (१३.१४)

ब्रह्म बिना पगों के चलता है, बिना कानों के सुनता है, बिना हाथों के कर्म करता है, बिना नाक के सूंघता है, बिना आंखों के देखता है, बिना मुख के बोलता है और बिना जीम के सब स्वादों का आनन्द लेता है. उसके समस्त कर्म इतने भव्य हैं कि उसकी महानता एकदम वर्णनातीत है (तु.रा. १.११७.०३-०४). ब्रह्म का वर्णन केवल दृष्टान्त और विरोधाभासों के माध्यम से ही किया जा सकता है और किसी प्रकार नहीं (श्वे.उ. ३.१६). भौतिक प्रकृति के तीन गुणों का भोग करने के लिए ब्रह्म अपना विस्तार जीव रूप में करता है.

बहिर् अन्तश्च भूतानाम् अचरं चरम् एव च ।

सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

सभी चर और अचर भूतों के बाहर और भीतर भी वही है. सूक्ष्म होने के कारण वह (मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा देखा या) जाना नहीं जा सकता है तथा वह (सर्वव्यापी होने के कारण) अत्यन्त दूर भी है और समीप भी. (१३.१५)

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तम् इव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयं ग्रसिष्यु प्रभविष्यु च ॥१६॥

वह एक होते हुए भी प्राणीरूप में अनेक दिखाई देता है. वह ज्ञान का विषय है तथा सभी भूतों को उत्पन्न करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला और संहारकर्ता भी वही है. (११.१३, १८.२० भी देखें.) (१३.१६)

एक ही पृथ्वी अनेक देशों में विभाजित-सी लगती है, एक ही देश इतने प्रदेशों में बंटा लगता है और एक प्रदेश इतने जनपदों में. इसी प्रकार एक ही सत्य अनेक दिखाई देते हैं. वे सब आभासित खण्ड हैं, क्योंकि उन सबमें सत्य का एक ही क्रम है, वही व्यवस्था है. ईश्वर शब्द का प्रयोग स्रष्टा, पालक, नियन्ता, विनाश कर्ता आदि ब्रह्म के इन विभिन्न रूपों के अर्थ में हुआ है.

ज्योतिषाम् अपि तज् ज्योतिस् तमसः परम् उच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह, सभी ज्योतियों का स्रोत, अन्धकार से परे है. वही ज्ञान है, ज्ञान का विषय है और वह तारतम्य विद्या द्वारा जाना जा सकता है. वह (ईश्वर-रूप से) सबके अन्तःकरण में रहता है. (गीता १५.०६, १५.१२ तथा मु.उ. ३.०१.०७, श्वे.उ. ३.०८ भी देखें.) (१३.१७)

मैं ही विश्व की ज्योति (ज्ञान) का भण्डार हूँ, जो भी मेरा अनुसरण करेगा, वह जीवन-ज्योति पाएगा और कभी भी (अज्ञान के) अंधेरे में नहीं भटकेगा (जॉन ८.१२). जो भी परमप्रभु को, जो सूर्य से अधिक कान्तिमय और (भौतिक पदार्थ के) तम से परे है, जानता है, वह मृत्यु से ऊपर उठ जाता है. इस ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग है ही नहीं (यजु.वे. ३१.१८, सा.वे. ३.०८).

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार (मेरे द्वारा) सृष्टि, तत्त्वज्ञान और जानने योग्य परमात्मा के विषय में संक्षेप से कहा गया. इसे तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है. (१३.१८)

पुरुष, प्रकृति, आत्मा, और परमात्मा का वर्णन

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्य अनादी उभाव् अपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्ध्य प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिर् उच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुर् उच्यते ॥२०॥

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तुम अनादि जानो. सभी विभूतियां और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं. शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति भी प्रकृति से होती है और सुख-दुःख का अनुभव पुरुष (अर्थात् चेतन शक्ति) के द्वारा होता है. (१३.१९-२०)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है. प्रकृति के गुणों से संयोग के कारण ही पुरुष (जीव बनकर) अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेता है. (१३.२१)

पुरुष प्रकृति से अप्रभावित है, जैसे सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब जल के तत्त्वों से अप्रभावित है. अपनी प्रकृति के कारण पुरुष छः ज्ञानेन्द्रियों और अहम् के संसर्ग में आता है और उससे लिप्त हो जाता है, अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है, अच्छे-बुरे कर्म करता है, अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और जीव के रूप में जन्म लेता है (भा.पु. ३.२७.०१-०३). जीव माया, ईश्वर और अपने मूल रूप को नहीं जानता. जीव मानव शरीर के जलपात्र में ब्रह्मरूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब है.

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्यु उक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

यह परम पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही (जीवरूप से) इस शरीर में साक्षी, सम्मति देनेवाला, पालनकर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा आदि कहा जाता है. (१३.२२)

शरीर-वृक्ष के अन्तःकरणरूपी घोंसले में जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं. प्रकृति में लिप्त होने के कारण जीव दुःख-सुख भोगता है तथा बन्धन और मुक्ति के अधीन है, जबकि ईश्वर प्रकृति से निर्लिप्त होने के कारण साक्षी और मार्गदर्शक के रूप में मुक्त रहता है. (भा.पु. ११.११.०६ तथा ऋ.वे. १.१६४.२०, अथ.वे. ६.०६.२०, मु.उ. ३.०१.०१ और श्वे.उ. ४.०६ भी देखें.) ईश्वर प्रकृति के गुणों से अप्रभावित और निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल जल से.

पुरुष सचेतन है, प्रकृति अचेतन. प्रकृति पुरुष के सहयोग से पांच प्राणों और तीन गुणों का प्रादुर्भाव करती है. पुरुष ही ईश्वर के रूप में भौतिक शरीर — जो प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से बना नौ द्वारोंवाला घर है — में निवास करता हुआ प्रकृति के गुणों से मिलकर ऐन्द्रिय पदार्थों का भोग करता है. माया के प्रभाव में पुरुष अपने वास्तविक स्वभाव को भूल जाता है तथा सुख-दुःख का अनुभव करता है, अच्छे-बुरे काम करता है, अज्ञानवश स्वेच्छा से किए कर्मों के बन्धन में बंध जाता है और मुक्ति की खोज करता है. जब जीव ऐन्द्रिय पदार्थों का त्याग कर देता है और प्रकृति के गुणों से ऊपर उठ जाता है, तब वह मुक्ति पा लेता है.

अनन्त शक्ति से सम्पन्न मन अपने रहने तथा अन्तिम वासनाओं की पूर्ति के लिए शरीर की रचना करता है. जीव स्वेच्छा से रेशम के कीड़े की तरह अपने ही बुने कृमिकोष (Cocoon) में फंस जाता है और निकल नहीं पाता तथा यातना भोगता है. जीव अपने ही कर्म से बंध जाता है और आवागमन के चक्र में फंस जाता है. सभी अच्छे-बुरे कर्म, यदि वे अहं के साथ किए जाते हैं, बन्धन को जन्म देते हैं. अच्छे कर्म सोने की बेड़ियां हैं, बुरे कर्म लोहे की. दोनों ही बेड़ियां हैं. सुनहरी बेड़ी कंगन नहीं हो सकती.

जीव एक किसान की भांति है, जिसे शरीर के रूप में भूमि का एक टुकड़ा दिया गया है. किसान को इस भूमि से काम, क्रोध और लोभ की घास को उखाड़ कर प्रभुप्रेम की अगाध कामना का हल जोतकर प्रभु में विश्वासरूपी खाद डालना चाहिए. समय आने पर खेत में भक्ति का अंकुर उग आएगा. अपने चुने हुए इष्टदेव के रूप के ध्यान और जप के जल से इस अंकुर को सतत रूप से अविराम सींचना चाहिए. ज्ञान और वैराग्य के फूलों के खिल जाने पर जीव को अपनी वास्तविक प्रकृति-विस्मरण का लोप हो जाता है. इन फूलों से आत्मज्ञान और प्रमुदर्शन के फल उगते हैं, जो जीव को आवागमन से मुक्ति की ओर ले जाते हैं.

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य यथार्थरूप से जान लेता है, वह सभी कर्तव्यकर्म करता हुआ भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है. (१३.२३)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानाम्नात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई साधक ध्यान के अभ्यास से, कोई सांख्ययोग के द्वारा तथा कोई कर्मयोग के द्वारा (शुद्ध किए हुए) मन और बुद्धि से अपने अन्तःकरण में परमात्मा का दर्शन करता है. (१३.२४)

विश्वास भी मोक्ष का मार्ग

अन्ये त्व् एवम् अजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्य् एव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

परन्तु, दूसरे जो परमात्मा को इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि द्वारा) नहीं जानते, वे केवल शास्त्र और महापुरुषों के वचनों के अनुसार उपासना करते हैं. वे भी मृत्युरूपी संसार सागर को श्रद्धारूपी नौका द्वारा निस्संदेह पार कर जाते हैं. (१३.२५)

धन्य हैं वे, जिन्होंने बिना समझे विश्वास किया है (जॉन २०.२६). यदि तुम विश्वास करते हो, तो जो तुम मांगोगे, तुम्हें मिल जाएगा (मैथ्यू २१.२२). प्रभु की कृपा पाने, उन्हें प्यार करने तथा पाने के लिए प्रभु को पूर्णतः समझना या जानना आवश्यक नहीं है.

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, चर और अचर जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबको तुम प्रकृति और पुरुष (अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) के संयोग से ही उत्पन्न हुए जानो. (७.०६ भी देखें.) (१३.२६)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्व् अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो मनुष्य अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है. (१३.२७)

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम् ।

न हिनस्त्य् आत्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

क्योंकि सबमें स्थित एक ही परमेश्वर को देखनेवाला मनुष्य अपने-आप अपनी ही (अर्थात् किसी की भी) हिंसा नहीं करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है. (१३.२८)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानम् अकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो मनुष्य सभी कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा ही किए जाते हुए देखता है और अपने-आप को (तथा आत्मा को भी) अकर्ता मानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है. (३.२७, ५.०९, १४.१९ भी देखें.) (१३.२९)

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जिस क्षण साधक सभी प्राणियों को तथा उनके अलग-अलग विचारों को एकमात्र परब्रह्म परमात्मा से ही उत्पन्न समझ जाता है, उसी क्षण वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है. (१३.३०)

ब्रह्म के लक्षण

अनादित्वान् निर्गुणत्वात् परमात्मायम् अव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे अर्जुन, अविनाशी परमात्मा अनादि और विकार-रहित होने के कारण शरीर में वास करता हुआ भी न कुछ करता है और न देह से लिप्त होता है. (१३.३१)

परमात्मा को निर्गुण कहा गया है, क्योंकि वह प्रकृति के तीन गुणों से युक्त नहीं है. निर्गुण शब्द को गलती से निराकार भी समझा गया है. 'निर्गुण' शब्द केवल भौतिक गुण और आकार — जैसा हम जानते हैं — के अभाव की ओर ही संकेत करता है. वस्तुतः प्रभु एक अप्रतिम व्यक्तित्व और असंख्य दिव्य गुणों के स्वामी हैं.

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण किसी विकार से दूषित नहीं होता, वैसे ही (सर्वव्यापी) आत्मा सभी देह के अन्दर रहते हुए भी (देह के) विकारों से दूषित नहीं होता. (१३.३२)

आत्मा सर्वत्र विद्यमान है. यह शरीर के भीतर है, शरीर के बाहर है और शरीर के चारों ओर तथा सभी जगह है.

यथा प्रकाशयत्य् एकः कृत्स्नं लोकम् इमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन, जैसे एक ही सूर्य सारे जगत् को प्रकाश देता है, वैसे ही एक परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना प्रदान करता है. (१३.३३)

शंकराचार्य के अनुसार व्यक्ति अज्ञानवश सृष्टि को तो देखता है, पर स्रष्टा को नहीं, जो सृष्टि के पीछे है; वैसे ही जैसे रात के अंधेरे में व्यक्ति सांप को देखता है, सांप के असत्य आभास को आधार देने वाली रस्सी को नहीं. यदि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व का आभास होता है, तो वह मृगमरीचिका, स्वप्न या रस्सी में सांप के अस्तित्व की तरह अयथार्थ है, कल्पना है. अद्वैत, जो सारी सृष्टि को स्वप्नलोक के रूप में नकारता है, पूर्ण सत्य नहीं है. वेदों के अनुसार, प्रभु (अन्तर्यामी रूप से) लोक में भी है और लोकातीत भी है; तथा लोक में और लोकातीत दोनों एक ही साथ भी है. संसार को स्वप्न-जैसा मानना एक रूपक है, मात्र कुछ विषयों का अर्थ समझाने के लिए, उसको अक्षरशः अर्थ में दूर तक नहीं ले जाना चाहिए.

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर् एवम् अन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर् यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा जीव के प्रकृति के विकारों से मुक्त होने के उपाय को जो लोग जान लेते हैं, वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं.

(१३.३४)

ब्रह्म अपनी माया को वैसे ही विकीर्ण करता है, जैसे सूर्य प्रकाश को प्रसारित करता है, अग्नि ऊष्मा देती है और चांद स्निग्ध किरणें प्रदान करता है (देवी.भा. ७.३२.०५). माया ब्रह्म की अबोधगम्य दिव्य शक्ति है, जो शक्ति के स्वामी ब्रह्म से अलग नहीं है. माया में

रचना की शक्ति है। माया जीव का शरीर के साथ तादात्म्यता स्थापित कराती है तथा प्रकृति के तीन गुणों का भोग कराकर जीव को ब्रह्मस्वरूप अपनी वास्तविक प्रकृति को भुलवाकर भ्रम में डाल देती है। सृष्टि ब्रह्म की शक्ति का मात्र आंशिक प्रकटीकरण है और इसे स्वप्नलोक की भांति मिथ्या, असत् आदि भी कहा गया है, क्योंकि यह परिवर्तन और विनाश के अधीन है। मिट्टी वास्तविक है, सत् है; तथा पात्र अवास्तविक और असत् है; क्योंकि मिट्टी पात्र के बनने से पूर्व भी विद्यमान रहती है, पात्र के रहते भी और पात्र के विनष्ट होने के बाद भी।

सृष्टि ब्रह्म की शक्तियों का अनायास स्वाभाविक चित्रण है, अतः उद्देश्यहीन है (मु.उ. १.०१.०७)। ब्रह्म की सृष्टि कर्म बिना किसी उद्देश्य या ध्येय के लिए रची गई माया देवी की लीला मात्र है (ब्र.सू. २.०१.३३)। सृष्टि कुछ नहीं है सिवाय ब्रह्म की अनन्त, असीम शक्ति का—खेल के लिए किया गया—पदार्थ में स्वाभाविक रूपान्तर और अरूपान्तर के (आइंस्टाइन का $E=mc^2$ सूत्र)। सृष्टि स्रष्टा से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे कपड़ा कपास से। कपड़े के संदर्भ में जुलाहा हर तन्तु में उपस्थित नहीं है, परन्तु सृष्टि में कर्ता और भौतिक कारण दोनों एक ही और वही है। सचमुच में यह एक दिव्य रहस्य है। विश्व में सब कुछ एक दूसरे से सम्बद्ध है। सृष्टि एक यांत्रिक या इंजीनियरी निर्माण कार्य नहीं है, यह तो दैवी भव्यता को प्रकट करती हुई परम आध्यात्मिक चमत्कार है। सृष्टि प्रभु द्वारा, प्रभु के लिए, प्रभु की संरचना है।

इस प्रकार क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागयोगः

१४. गुणत्रयविभागयोग

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम् ।

यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिम् इतो गताः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— समस्त ज्ञानों में उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर से कहूंगा, जिसे जानकर सब साधकों ने इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की है। (१४.०१)

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप को प्राप्त मनुष्य सृष्टि के आदि में पुनर्जन्म नहीं लेते तथा प्रलयकाल में भी व्यथित नहीं होते। (१४.०२)

पुरुष प्रकृति संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति

मम योनिर् महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्य् अहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन, मेरी महद् ब्रह्मरूप प्रकृति सभी प्राणियों की योनि है, जिसमें मैं चेतनारूप बीज डालकर (जड़ और चेतन के संयोग से) समस्त भूतों की उत्पत्ति करता हूँ: (१.१० भी देखें)। (१४.०३)

माया द्वारा उत्पन्न प्रकृति महद्ब्रह्म का स्रोत है, मूल है। अतः प्रकृति को महद्ब्रह्म भी कहा गया है। महद्ब्रह्म के कई नाम हैं, यथा महत्, महत्तत्त्व, परमबुद्धि और वैश्विक

मनस्. जब प्रकृति में पुरुष का बीज अंकुरित होने के लिए बोया जाता है, तब प्रकृति सृष्टि की रचना करती है.

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद् योनिर् अहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कुन्तीपुत्र, सभी योनियों में जितने शरीर पैदा होते हैं, प्रकृति उन सबकी माता है और मैं चेतना देनेवाला पिता हूं. (१४.०४)

ईसा ने कहा है कि परमपिता स्वर्ग में है. हमारी सम्मति में श्रीकृष्ण ही वह पिता है, जैसा कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में घोषणा की है.

प्रकृति के गुण ही आत्मा को शरीर से बांधते हैं

सत्त्वं रजस् तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहं देहिनम् अव्ययम् ॥५॥

हे अर्जुन, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणरूपी रस्सी – सत्त्व, रजस् और तमस् – अविनाशी जीव को देह के साथ बांध देते हैं. (१४.०५)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् ।

सुखसङ्गो बध्नाति ज्ञानसङ्गो चानघ ॥६॥

हे पापरहित अर्जुन, इनमें सतोगुण निर्मल होने के कारण विकाररहित और ज्ञान देनेवाला है, यह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बांधता है. (१४.०६)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्रवम् ।

तन् निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गो देहिनम् ॥७॥

हे अर्जुन, रजोगुण को रागस्वरूप समझो, जिससे विषय-भोग की प्यास (तृष्णा) और आसक्ति उत्पन्न होती है. यह जीवात्मा को कर्मफल की आसक्ति से बांधता है. (१४.०७)

तमस् त्व अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस् तन् निबध्नाति भारत ॥८॥

और हे भारत, सब जीवों को भ्रम में डालनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो. तमोगुण लापरवाही, आलस और निद्रा के द्वारा जीव को बांधता है. (१४.०८)

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानम् आवृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्य उत ॥९॥

हे अर्जुन, सतोगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्त करवाता है तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर जीव को लापरवाह बना देता है. (१४.०९)

प्रकृति के तीन गुणों के लक्षण

रजस् तमश् चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस् तथा ॥१०॥

हे अर्जुन, कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण, कभी सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण तथा कभी सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है. (१४.१०)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वम् इत्य् उत ॥११॥

जब ज्ञान का प्रकाश इस देह के सभी द्वारों (अर्थात् समस्त इन्द्रियों) को प्रकाशित करता है (अर्थात् जब जीवात्मा के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है), तब सतोगुण को बढ़ा हुआ जानना चाहिए. (१४.११)

ज्ञानेन्द्रियों — नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि — को शरीर में आत्मज्ञान के द्वार कहे गए हैं. जब निःस्वार्थ सेवा, संयम और साधना द्वारा इन्द्रियों की शुद्धि हो जाती है, तब मन और बुद्धि सत्त्वगुण से प्रभावित होते हैं और आत्मज्ञान पाने के पात्र हो जाते हैं. श्लोक १४.१७ में यह भी कहा गया है कि ज्ञान का उदय तभी होता है, जब व्यक्ति का मन पूर्णतः सत्त्वगुण में दृढ़ता से प्रस्थापित हो जाता है. जैसे प्रकाश में पदार्थ बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही जब आत्मज्ञान के प्रकाश के उदित होने से इन्द्रियां द्युतिमान हो जाती हैं, तब व्यक्ति उचित रूप से देखता और सोचता है, इन्द्रियां जो अनुचित हैं, उससे बचती हैं और मन में ऐन्द्रिय आनन्द के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता.

लोभः प्रवृत्तिर् आरम्भः कर्मणाम् अशमः स्पृहा ।

रजस्य् एतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सक्रियता, सकाम कर्म, बेचैनी, लालसा आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१२)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्य् एतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुण के बढ़ने पर अज्ञान, निष्क्रियता, लापरवाही, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं. (१४.१३)

त्रिगुण ही आत्मा के पुनर्जन्म के वाहक हैं

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

जिस समय सतोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो जीव उत्तम कर्म करनेवालों के निर्मल लोक अर्थात् स्वर्ग को जाता है. (१४.१४)

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस् तमसि मृदयोनिषु जायते ॥१५॥

जिस समय रजोगुण बढ़ा हो, उस समय यदि मनुष्य मरता है, तो वह कर्मों में आसक्तिवाले मनुष्यों में जन्म लेता है. तमोगुण की वृद्धि के समय मरनेवाला मनुष्य पशु आदि मृदु योनियों में जन्म लेता है. (१४.१५)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस् तु फलं दुःखम् अज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्म का फल शुभ और निर्मल कहा गया है, राजसिक कर्म का फल दुःख और तामसिक कर्म का फल अज्ञान कहा गया है. (१४.१६)

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानम् एव च ॥१७॥

सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से लापरवाही, भ्रम और अज्ञान उत्पन्न होते हैं. (१४.१७)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण में स्थित व्यक्ति उत्तम लोकों को जाते हैं, राजस व्यक्ति मनुष्ययोनि में आते हैं और तमोगुण की हीन प्रवृत्तियों में स्थित तामस मनुष्य नीच योनियों में जन्म लेते हैं। (१४.१८)

गुणातीत होने पर मोक्ष

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं समझता है तथा गुणों से परे मुझ परमात्मा को तत्त्व से जान लेता है, उस समय वह मेरे स्वरूप अर्थात् सारूप्य मुक्ति को प्राप्त करता है। (३.२७, ५.०९, १३.२९ भी देखें।) (१४.१९)

जो इस बात में पूर्णतः विश्वास नहीं करता कि ईश्वर ही सबका नियंत्रण करते हैं और अपनेआप को स्वामी, कर्ता और भोक्ता मान बैठता है, वह कर्म के नियमों के अनुसार बंध जाता है। वस्तुतः स्वयं भगवान् ही प्राणियों के द्वारा प्राणियों की रचना तथा उन्हींके द्वारा उनका संहार भी करते हैं (भा.पु. ६.१२.१२)। सब अच्छे-बुरे कर्मों को करने की शक्ति प्रभु से आती है, पर अन्त में हम ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं, क्योंकि हममें सोचने की शक्ति भी है। प्रभु ने हमें काम करने की शक्ति दी है, पर हम उस शक्ति को अच्छे या बुरे तरीके से उपयोग में लाने के लिए स्वतंत्र हैं और तदनुसार मुक्त या बन्धनमय होते हैं।

माया द्वारा निर्मित अज्ञान के कारण व्यक्ति अपने को कर्ता समझता है और परिणामस्वरूप कर्म-बन्धन में बंध जाता है तथा आवागमन के चक्र में पड़ जाता है (भा.पु. ११.११.१०)। जब भी कोई अपनेको कुछ करनेवाला घोषित करता है या समझता है, तब वह कर्ता की भूमिका ग्रहण करता है, अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी होता है और आवागमन के जटिल कर्मजाल में फंस जाता है।

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर् विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते ॥२०॥

जब मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण तथा देह से उत्पन्न तीनों गुणों से परे हो जाता है, तब वह मुक्ति प्राप्तकर जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, के दुःखों से विमुक्त हो जाता है।

(१४.२०)

गुणातीत होने की प्रक्रिया

अर्जुन उवाच—

कैर् लिङ्गैस् त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोले— हे प्रभो, इन तीनों गुणों से अतीत मनुष्य के क्या लक्षण हैं? उसका आचरण कैसा होता है? और मनुष्य इन तीनों गुणों से परे कैसे हो सकता है? (१४.२१)

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहम् एव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवद् आसीनो गुणैर् यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्य् एव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, जो मनुष्य तीनों गुणों के कार्य ज्ञान, सक्रियता और भ्रम में बंध जाने पर बुरा नहीं मानता और उनसे मुक्त होने पर उनकी आकांक्षा भी नहीं

करता, जो साक्षी के समान रहकर गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता तथा "गुण ही अपने-अपने कार्य कर रहे हैं" ऐसा समझकर परमात्मा में स्थिर भाव से स्थित रहता है; (१४.२२-२३)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस् तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस् तुल्यस् तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो निरन्तर आत्मभाव में रहता है तथा सुख-दुःख में समान रहता है; जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है; जो धीर है; जो प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र में समान भाव रखता है और जो सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन के भाव से रहित है वह गुणातीत कहलाता है. (१४.२४-२५)

गुरु नानक ने कहा है: जो प्रसन्नतापूर्वक प्रभु इच्छा का पालन करता है, वही मुक्त और ज्ञानी है. केवल ऐसे व्यक्ति के लिए ही सोना और पत्थर, पीड़ा और आनन्द एक-से होते हैं.

अनन्य भक्ति द्वारा गुण-बन्धनों को काटना सम्भव

मां च यो ऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो मनुष्य अनन्यभक्ति से निरन्तर मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है. (७.१४, १५.१९ भी देखें.) (१४.२६)

ईश्वर की अनन्य अथवा अव्यभिचारी भक्ति वह पराभक्ति है जिसमें ईश्वर के सिवा किसी दूसरे का सहारा न हो.

सतो गुण सत्य की ओर ले जानेवाली सीढ़ी का उच्चतम डण्डा है, पर वह स्वयं में सत्य नहीं है (यतीश्वरानन्द). प्रकृति के तीन गुणों को क्रमशः जीता जा सकता है. सबसे पहले व्यक्ति को — कुछ यमों को विकसित कर और नियमों का पालन कर — तमोगुण और रजोगुण पर विजय प्राप्तकर अपने को सतो गुण में प्रस्थापित करना पड़ेगा. तब व्यक्ति अच्छे-बुरे, सुख-दुःख के द्वित्व पर विजय पाने को तैयार होता है तथा सतो गुण के उच्चतम सोपान से परे जाकर उच्चतर लोकातीत धरातल पर पहुँच जाता है. आध्यात्मिक साधना का अभ्यास और शाकाहारी भोजन मन को तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठाकर आनन्द के अनुभवातीत धरातल पर ले जाते हैं, जहाँ विरोधी द्वित्व लुप्त हो जाते हैं. तत्त्वमीमांसा की सुदृढ़ समझ से उत्पन्न गूढ़ विचार सतो गुण का ही परिणाम है. कोई भी व्यक्ति दृढ़ विश्वास, भक्ति और भगवान् कृष्ण के प्रति अनन्यप्रेम की नौका से त्रिगुणात्मक माया के सागर को सुगमता से पार कर सकता है. माया के त्रिगुणों से ऊपर उठने और मुक्ति पाने का कोई दूसरा सरल मार्ग नहीं है.

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि, मैं (परब्रह्म) ही अविनाशी अक्षरब्रह्म, शाश्वत धर्म तथा परम आनन्द का स्रोत हूँ. (१४.२७)

इस प्रकार गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोगः

१५. पुरुषोत्तमयोग

सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस् तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले— इस संसार को एक सनातन पीपल का वृक्ष कहा गया है, जिसका स्रोत (मूल) परमात्मा है, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी शाखाएँ हैं तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हैं। इस संसाररूपी वृक्ष को जो मनुष्य मूल सहित (तत्त्व से) जान लेता है, वही वेदों का जाननेवाला है। (गीता १०.०८ तथा कठ.उ. ६.०१, भा.पु. ११.१२.२०-२ ४ भी देखें।) (१५.०१)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास् तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्य् अनुसंततानि

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस वृक्ष की शाखाएँ सभी ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के गुणरूपी जल से इसकी वृद्धि होती है; विषयभोग इसकी कोपलें हैं; इस वृक्ष की (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ें पृथ्वीलोक में कर्मबन्धन बनकर व्याप्त हैं। (१५.०२)

मानव शरीर — सूक्ष्म ब्रह्माण्ड अर्थात् विश्व — की तुलना एक आदि और अन्त रहित वृक्ष से भी की जा सकती है। कर्म उसका बीज है और अनन्त कामनाएँ उसकी जड़ें हैं। पांच मौलिक तत्त्व प्रमुख शाखाएँ हैं तथा ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियाँ उसकी उपशाखाएँ हैं। भौतिक प्रकृति के तीन गुण पोषण प्रदान करते हैं और ऐन्द्रिक सुख उसके अंकुर हैं। यह वृक्ष सतत रूप से परिवर्तित होता रहता है, किन्तु शाश्वत अनादि और अन्तहीन है। जैसे पतियाँ वृक्ष की रक्षा करती हैं, वैसे ही वैदिक कर्मकाण्ड इसकी रक्षा करता है और इसे स्थायित्व देता है। जो भी इस अलौकिक वृक्ष को, इसके मूल को, इसकी प्रकृति और कर्म-प्रक्रिया को समझता है, वही सही अर्थों में वेदों का ज्ञाता है।

सनातन आत्मा के दो स्वरूप — दैवी नियन्ता और नियन्त्रित जीवात्मा — सृष्टि की लीला के रूप में इसी वृक्ष पर नीड़ बनाकर रहते हैं। गुण और अवगुण इसके गौरवमय पुष्प हैं और आनन्द तथा पीड़ा इसके मीठे और कड़ुवे फल। जीवात्मा अज्ञानवश इन फलों को खाता है, जबकि नियन्ता वृक्ष पर बैठा हुआ सब देखता है और जीवात्मा का पथ-प्रदर्शन करता है। जीवात्माएँ विभिन्न कोटि के सुन्दर पक्षियों की भाँति हैं। कोई भी दो पक्षी समान नहीं हैं। इसी से सृष्टि सुन्दर है।

मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे?

न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम्

असङ्गशस्त्रेण वृधेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस मायारूपी संसार-वृक्ष के स्वरूप, आदि तथा अन्त का पता नहीं है. (इसलिए) मनुष्य इसकी (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ों को ज्ञान और वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर ऐसा सोचते हुए — कि मैं उस परम पुरुष की शरण में हूँ, जिससे ये सारी सनातन विभूतियाँ व्याप्त हैं — उस परमतत्त्व की खोज करे, जिसे प्राप्तकर मनुष्य पुनः इस संसार में वापस नहीं आता. (१५.०३-०४)

सृष्टि आवर्ती है — आदि-अन्त-हीन. सतत रूप से यह परिवर्तित होती रहती है और इसका कोई स्थायी अस्तित्व या वास्तविक आकार नहीं है. आध्यात्मिक साधना की शिला पर व्यक्ति को अपने तत्त्वज्ञान और अनासक्ति के कुल्हाड़े को पैना कर जीवात्मा और परमात्मा के बीच की भिन्नता की अनुभूति को काट डालना चाहिए तथा हर्ष और शोक की विचरती छायाओं से बने जीवन-नाटक में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेते हुए इस संसार में अहम् और वासना से पूर्णतः मुक्त होकर रहना चाहिए.

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्य् अमृदाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥

जो मान और मोह आदि से निवृत्त हो चुके हैं, जिन्होंने आसक्तिरूपी दोष को जीत लिया है, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थित हैं और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी हैं तथा जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गए हैं — ऐसे ज्ञानी जन उस अविनाशी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१५.०५)

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥६॥

उस स्वयंप्रकाशित परमधाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही. वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (गीता १३.१७, १५.१२ तथा कठ.उ. ५.१५, श्वे.उ. ६.१४, मु.उ. २.०२.१० भी देखें.) (१५.०६)

परमात्मा स्वयंप्रभासित है, किसी अन्य शक्ति से प्रकाशित नहीं. वह सूर्य-चन्द्रमा को प्रकाशित करता है, वैसे ही जैसे प्रभासित दीपक अन्य पदार्थों को (देवी.भा. ७.३२.१४). परमात्मा सृष्टि के समय अस्तित्व में आए सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से पहले विद्यमान था तथा महाप्रलय काल में सब वस्तुओं के विलुप्त प्रकृति में विलय होने के बाद भी विद्यमान रहेगा.

जीवात्मा भोक्ता है

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जीवलोक में सनातन जीवभूत, अर्थात् जीवात्मा, मेरी ही शक्ति का एक अंश है, जो प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है. (१५.०७)

मूलतः आत्मा ही ब्रह्म कही जाती है। आत्मा ही परब्रह्म की सच्ची प्रकृति है। अतः आत्मा (ब्रह्म) को परब्रह्म का अभिन्न अंग भी कहा जाता है। इसी को व्यक्तिगत आत्मा, जीव या प्राणियों के शरीर में (विद्यमान) जीवात्मा भी कहा जाता है। आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के बीच का अन्तर सीमित करती अनुबद्धताओं — शरीर और मन — के कारण (दीखता) है, वैसे ही जैसे यह भ्रम (होता है) कि बन्द पात्र का आकाश असीमित आकाश से अलग है।

शरीरं यद् अवाप्नोति यच्च चाप्य् उत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर् गन्धान् इवाशयात् ॥८॥

जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाती है। (२.१३ भी देखें।) (१५.०८)

यह जीवात्मा सूक्ष्म शरीर — अर्थात् अनुभूति की छः ऐन्द्रिय शक्तियों — को एक स्थूल भौतिक शरीर से दूसरे तक मृत्यु के बाद वैसे ही ले जाती है, जैसे वायु धूल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक। वायु धूल के संसर्ग से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित। इसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर के भावों से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित (म.भा. १२.२११.१३-१४)। भौतिक शरीर देश-काल की सीमाओं में सीमित हैं, किन्तु अदृश्य सूक्ष्म शरीर असीमित हैं, सर्वव्यापी हैं। सूक्ष्म शरीर व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्म को अगले जन्म तक ले जाते हैं, जब तक कि समस्त कर्म समाप्त नहीं हो जाता। जब वासनाओं एवं कामनाओं का सारा चिह्न आत्म-बोध की उषा के उपरान्त मिट जाता है, तब भौतिक शरीर का अस्तित्व मानो और नहीं रहता है और मस्तिष्क में सूक्ष्म शरीर का भाव दृढ़ हो जाता है। सूक्ष्म शरीर भौतिक शरीर की ही हूबहू प्रतिलिपि है। सूक्ष्म संसार के जीव कला, तकनीक और संस्कृति में अधिक विकसित हैं। वे भौतिक संसार को विकसित और अभिवृद्ध करने के लिए भौतिक शरीरों को धारण करते हैं। स्वामी हरिहरानन्द गिरि कहते हैं: व्यक्ति प्रभु के दर्शन या उसकी अनुभूति और प्राप्ति नहीं कर सकता, यदि वह अदृश्य सूक्ष्म शरीर की खोज नहीं करता।

जाग्रत् अवस्था में भौतिक शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और अहम् सक्रिय रहते हैं। स्वप्नावस्था में जीवात्मा अस्थायी तौर पर स्वप्न-संसार की सृष्टि करता है और भौतिक शरीर का त्याग किए बिना स्वप्न-शरीर के साथ स्वप्न-संसार में विचरण करता है। गहन निद्रावस्था में जीवात्मा ब्रह्म में — मन और बुद्धि से अप्रभावित — पूर्णतः लीन रहता है। परब्रह्म, अर्थात् वैश्विक चेतना, तीनों अवस्थाओं में प्रत्यक्षदर्शी के रूप में हमें देखता है। मृत्यु के बाद जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लेता है। जीव बन्धनमय हो जाता है, खो जाता है और फिर अपनी वास्तविक प्रकृति की खोज के द्वारा मुक्त होने का प्रयत्न करता है। ब्रह्म की दिशा में की गई लम्बी और दुरुह आध्यात्मिक यात्रा में पुनर्जन्म जीव को भौतिक शरीर रूपी यान बदलने की सुविधा प्रदान करता है। समस्त कर्म की समाप्ति होने तक जीवात्मा विभिन्न भौतिक शरीरों को ग्रहण करता रहता है और कर्म-निग्रह के बाद ब्रह्म प्राप्ति का ध्येय पूर्ण कर लेता है।

कहा जाता है कि ब्रह्म माया का आवरण ओढ़ लेता है, जीवात्मा बन जाता है, मानवीय और अन्य रूप धारण करता है, मात्र भवलीला-नाटक खेलने के लिए; जिसमें नाटक के लेखक, निर्माता, निर्देशक, समस्त अभिनेता तथा साथ ही साथ दर्शक, सब एक वही है। प्रभु लीला करता है, अभिनय करता है और अपनी ही सृष्टि का आनन्द भोगता है। हमारी सभी समस्याएं तिरोहित हो जाएंगी, यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि हम केवल

एक भूमिका का अभिनय कर रहे हैं और कभी भी घटनाओं को नितान्त व्यक्तिगत रूप में न लें। ब्रह्मलीला के अभिनेता, प्रभु, को देखने के लिए हमें लीला से अपने मन को तटस्थ एवं अनासक्त रखना होगा। विज्ञान केवल ब्रह्मलीला-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जबकि अध्यात्म ब्रह्मलीला के परम अभिनेता के ज्ञान का विश्लेषण — जैसा कि आंशिक रूप से जीवात्मा-अभिनेता उसे समझता है — करता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणम् एव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते ॥९॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यह जीव कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है। अज्ञानी जन जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा शरीर में स्थित गुणों से समन्वित होकर विषयों को भोगते हुए नहीं देख सकते; उसे केवल ज्ञानचक्षु-वाले ही देख सकते हैं। (१५.०९-१०)

आध्यात्मिक आनन्द की सुधा के उच्चतर स्वाद को विकसित करने पर इन्द्रियां भौतिक सुखों का स्वाद खो देती हैं। आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति व्यक्ति की ऐन्द्रिय तुष्टीकरण की कामना की सच्ची पूर्ति है। शुद्धात्मा गलत काम, जो ऐन्द्रिय सुखों की अवशिष्ट सूक्ष्म कामनाओं के कारण आगे आते हैं, करने से परहेज करेगी।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्य् आत्मन्य् अवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्य् अकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य् अचेतसः ॥११॥

प्रयत्न करनेवाले योगी जन अपने अन्तःकरण में स्थित जीवात्मा को देखते हैं; अशुद्ध अन्तःकरण-वाले अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं देख (या जान) सकते हैं। (१५.११)

ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है

यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।

यच् चन्द्रमसि यच् चान्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो। (१३.१७, १५.०६ भी देखें)। (१५.१२)

सूर्य का प्रकाश उस (प्रभु) की दीप्ति का प्रतिबिम्ब है (ऋ.वे. १०.०७.०३)। ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र — अपने में, सबमें और समस्त लोक में — उस परम ज्योतिपुंज को देखते हैं जो दृश्य विश्व का स्रोत है तथा सर्वव्यापी दिन के प्रकाश की तरह द्युतिमान है (छा.उ. ३.१७.०७)। संसार और उसके सब पदार्थ ब्रह्माण्ड के चित्रपट पर छोड़ी हुई छाया और प्रकाश से बने चित्र मात्र है (योगानन्द)। कुरआन का कहना है— प्रभु स्वर्ग, आकाश और धरती की ज्योति है (सूरा २४.३५)।

पावन अमरज्योति का आकार एक दिव्य ज्योति-ऊर्जा के बृहद् द्युतिमान पुंज-सा है। वह परब्रह्म की ज्योति ही है, जो अमरज्योति में है और जो सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि आकाशगंगा के सब प्रकाशपुंज नक्षत्रों में है। यह उसी (परब्रह्म) की ज्योति है, जो काष्ठों में है, दीपकों और शमाओं में है और ऊर्जा के रूप में सब प्राणियों में है। उसी का प्रकाश सब प्रकाशों में निहित है और लोक की समस्त ऊर्जा का स्रोत है। परब्रह्म की सत्ता के बिना अग्नि घास के एक तिनके को भी जलाने में असमर्थ है। परब्रह्म की इस ज्योति की अनुभूति या प्रतीति तब तक नहीं हो सकती, जब तक व्यक्ति ने अपने मन को पूर्णतः

सशक्त और शान्त, बुद्धि को शुद्ध तथा इच्छा-अनुभूति-शक्ति को विकसित न कर लिया हो। साथ ही व्यक्ति को इतना सशक्त भी होना पड़ेगा कि वह परम समाधिस्थ होकर सब ज्योतियों की इस ज्योति की अनुभूति के समय उत्पन्न होनेवाले मानसिक आघात को सहन कर सके।

जैसा कि प्रिज्म के अभाव में मानव-चक्षुओं को सूर्यप्रकाश का समस्त प्रतिबिम्ब परिदर्शित नहीं हो सकता, वैसे ही हम प्रभु-कृपा और शास्त्रों के पढ़े बिना परब्रह्म की ज्योति को नहीं देख सकते। जिन योगियों ने अपनी चेतना को परम चेतना में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है, वे ही समाधि में अमरज्योति के दर्शन कर सकते हैं। यह समस्त लोक परब्रह्म की ऊर्जा से ही टिका है और उसी की महिमा को प्रतिबिम्बित करता है।

गाम् आविश्य च भूतानि धारयाम्य अहम् ओजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सभी भूतों को धारण करता हूँ और रस देनेवाला चन्द्रमा बनकर सभी वनस्पतियों को रस प्रदान करता हूँ. (१५.१३)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्य अन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि हूँ, जो प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता है. (१५.१४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो

मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो

वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५॥

तथा मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूँ: स्मृति, ज्ञान तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझसे ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ. (६.३९ भी देखें.)
(१५.१५)

परब्रह्म सब शास्त्रों का स्रोत है (ब्र.सू. १.०१.०३). प्रभु समस्त प्राणियों की चेतना के रूप में अन्तःकरण में निवास करते हैं, न कि शरीर के भौतिक हृदय में, जैसा कि साधारणतः गलती से समझा जाता है।

क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं?

द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोक में (परब्रह्म के) क्षर (नश्वर) पुरुष और अक्षर (अविनाशी) पुरुष नामक दो दिव्य स्वरूप हैं. समस्त जगत् क्षर पुरुष का विस्तार है और अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) अविनाशी कहलाता है. (१५.१६)

यहां दिव्य पुरुष, परमपिता परमात्मा, के दो स्वरूपों — क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष — का वर्णन किया गया है. समस्त सृष्टि — सब देवों, चौदह लोकों से लेकर घास के तिनके तक — दिव्य पुरुष के क्षर स्वरूप का विस्तार है. अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) चैतन्य शक्ति है, जो समस्त कारणों का मूल कारण है, स्रोत है; जिससे क्षर पुरुष, प्रकृति और असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं; जिससे उनका पोषण होता है और जिसमें उनका पुनः पुनः

विलय होता है। क्षर और अक्षर पुरुष (आत्मा) को श्लोक १३.०१-०२ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा श्लोक १४.०३-०४ में योनि (अर्थात् माता) और बीजप्रद पिता भी कहा गया है।

उत्तमः पुरुषस् त्व अन्यः परमात्मेत्य् उदाहृतः ।

यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्य् अव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु इन दोनों से परे एक तीसरा उत्तम दिव्य पुरुष है, जो परब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है। वह तीनों लोकों में प्रवेश करके ईश्वररूप से सब का पालन-पोषण करता है। (१५.१७)

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षराद् अपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं, परब्रह्म परमात्मा, क्षर पुरुष (अर्थात् नारायण) और अक्षर पुरुष (अर्थात् ब्रह्म) दोनों से उत्तम (अर्थात् परे) हूँ, इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहलाता हूँ: (मु.उ. २.०१.०२ भी देखें।) (१५.१८)

मूलतः क्षर (दैव), अक्षर (आत्मा, ब्रह्म) और अक्षरातीत (परब्रह्म परमात्मा, परमसत्य) एक ही सत्ता के तीन विभिन्न स्वरूप हैं। अदृश्य, अपरिवर्तनीय और अविकारी स्वरूप को अक्षर कहा गया है। क्षर स्वरूप उसी अक्षर स्वरूप का भौतिक लोक में विस्तार है। समस्त सृष्टि सतत रूप से परिवर्तनीय और विकारी है तथा क्षर कहलाती है। क्षर और अक्षर दोनों ही अक्षरातीत (परब्रह्म) का विस्तार है। अक्षरातीत परब्रह्म ही — जो क्षर और अक्षर दोनों का मूलाधार है, परम सत्य है, परमात्मा है — अनेक नामों से जाना जाता है। उसी परब्रह्म का सगुण स्वरूप ही कृष्ण, पिता, माता, ईश्वर, शिव, अल्लाह आदि नामों से जाना जाता है।

परमपिता परमात्मा का अवरोहण

नोट— निम्न व्याख्या केवल उन प्रबुद्ध पाठकों के लिए है जिन्होंने गीता के अध्ययन में कुछ वर्ष लगाए हैं। पाठक-गण निम्न लिखित वैश्विक व्यवस्था को श्रेणी-क्रम (Hierarchy of Cosmic Control) से अंकित करते हुए रेखाचित्र को देखने के लिए कृपया website: www.gita-society.com/genesis.pdf पर जाएं। कोष्ठक के अन्दरवाले अंकों को website के रेखाचित्र में देखें।

वैदिक सृष्टि-शास्त्र में आकाश (Cosmic Space) पांच प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित है— (१) चिदाकाश, (२) सदाकाश, (३) परमाकाश, (४) ब्रह्माण्डाकाश, और (५) घटाकाश।

(१) चिदाकाश

परब्रह्म परमात्मा (1) का निवास, परमधाम (गीता १५.०६); सर्वोपरि स्थान, चिदाकाश, में स्थित है। यहां श्रीकृष्ण परमात्मा, परमप्रभु, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द, पिता, परमेश्वर आदि विभिन्न नामों से जाने जाते हैं।

(२) सदाकाश

अक्षरब्रह्म (2) सदाकाश में परब्रह्म परमात्मा की सत् प्रकृति का विस्तार है, जैसा कि गीता १०.४२ और १४.२७ में बताया गया है। गीता के श्लोक ८.०३ और १५.१६ में उल्लिखित अक्षरब्रह्म के तीन प्रमुख विस्तार (या पाद) ये हैं— सत् (2a), सबलब्रह्म या चित्त (2b), और आनन्द (2c) अथवा केवलब्रह्म। सत् स्वभाव को आत्मा या परमेश्वर भी कहा गया है। चित्त स्वभाव के और भी विभिन्न नाम हैं, जैसे — चैतन्यब्रह्म, परमशिव और परात्मा। केवलब्रह्म की ऊर्जा, आनन्द, को गीता के श्लोक ४.०६ और ७.२५ में योगमाया भी कहा गया है।

(३) परमाकाश

चित्त (2b) और आनन्द (2c) प्रकृतियां परमाकाश में चतुर्थपाद, अव्यक्त अक्षरब्रह्म या अव्यक्तब्रह्म (3), के अवरोहण हेतु संयुज्य होती हैं। इसे कई नामों से जाना जाता है— जैसे अनिर्वचनीय ब्रह्म, अव्यक्त, आदिपुरुष, आदिप्रकृति, प्रधान, विग्रह और सर्वकारण-कारणम्, अव्यक्तब्रह्म, जो परब्रह्म (परमात्मा) का लघु अंश मात्र है, अनन्त ब्रह्माण्ड में विस्तार पाता है, जैसा कि गीता ८.१८ और १०.४१ में कहा गया है। परमाकाश योगमाया की प्रमुख शक्तियों—आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति, विग्रह शक्ति, ब्रह्मविद्या शक्ति, प्रज्ञा, कर्म तथा ऊर्जा को पदार्थ और पदार्थ को ऊर्जा में परिवर्तन करने की शक्ति आदि— का भी आवास है।

भगवान् कृष्ण परमाकाश में गोलोकीनाथ के रूप में जाने जाते हैं। गोलोकीनाथ अर्थात् अव्यक्तब्रह्म के दो प्रमुख विस्तरण हैं— ब्रह्मशिव या प्रणव-ब्रह्म (3a) और मायाब्रह्म (3b)। प्रणवब्रह्म नादशिव या ओंकार (3a.1) में विस्तार पाते हैं, और ओंकार शिव या ओम् (3a.1a) में (गीता १०.२५)। प्रणवब्रह्म का अवरोहण गायत्री (3a.2) (गीता १०.३५) में भी होता है, जो देवों का आवास है (गीता ७.०८)।

मायाब्रह्म परमाकाश में योगमाया का प्रतिबिम्ब है। यह अन्य क्रमिक परिवर्तित रूपों — जैसे महामाया, कालमाया और माया (3b.1) (गीता ७.१४) — में भी अवतरित होता है।

(४) ब्रह्माण्डाकाश

माया अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा शक्ति के अल्पांश से ब्रह्माण्डाकाश का निर्माण करती है। ब्रह्माण्डाकाश में माया देवी हिरण्यगर्भ (Golden Egg) का भी निर्माण करती है। आदिनारायण (अथवा आदि पुरुष (4), क्षर पुरुष, शम्भू, महादेव) और महादेवी (अथवा आदि प्रकृति, मां, अम्बा) हिरण्यगर्भ में एक कल्प या 311 Trillion solar years तक योगनिद्रा में रहते हैं (गीता ६.०७)। ओम् का ब्रह्मनाद हिरण्यगर्भ को सक्रिय अर्थात् जाग्रत् कर महाविष्णु — जो पुरुष (4a) या नारायण, (गीता ७.०५, १५.१६) नाम से भी जाने जाते हैं — और अम्बा या प्रकृति (4b) (गीता ७.०४) का उद्भव करता है। प्रकृति के तीन गुण हैं। (अध्याय १४ भी देखें)। प्रकृति के इन तीन गुणों का समुच्चय महत्त्व, तन्त्रमात्रा अथवा महत् (4b.1) भी कहलाता है। महाविष्णु अपनी श्वंस-शक्ति से घटाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड (Cosmic Eggs) की उत्पत्ति करते हैं।

(५) घटाकाश

घटाकाश (अथवा विष्णुलोक) में ब्रह्माण्डाकाश के नारायण या महाविष्णु विष्णु (5) के रूप में प्रकट होते हैं, जहाँ उनको क्षिरोदक-विष्णु भी कहा जाता है और वे अपनी भूमिका का विस्तार ब्रह्मा (5b) और शंकर (5c) के रूप में करते हैं। ब्रह्मा सात स्वर्गों, सात पातालों, जम्बूद्वीपों, धरा और अन्य नारकीय नक्षत्रों का सृजन करते हैं। आंशिक-प्रलय-काल (गीता ८.१७) में ब्रह्मा की समस्त सृष्टि क्षिरोदक विष्णु के उदर में समाहित रहती है। नारायण अपना विस्तार निरंजन देव और ईश्वर के रूप में भी करते हैं। निरंजनदेव महत्त्व को सक्रिय कर पंचभूतों (5d) — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश — का निर्माण करते हैं। (गीता ७.०४ भी देखें)।

पंचभूत विस्तृत होकर २४ तत्त्वों (गीता १३.०६ में व्याख्या देखें) के बने हुए पिण्ड में परिवर्तित हो जाते हैं। पिण्ड से जीवों के पार्थिव शरीरों की रचना पृथ्वी पर की जाती है, जब नारायण अपनी जीवन-शक्ति का बीज (श्लोक ७.१०, १०.३६ और १४.०४ भी देखें) पिण्ड में प्रस्थापित करते हैं और ईश्वर के रूपमें समस्त जीवों के अन्तःकरण में निवास करते हैं। (१५.०७ और १८.६१ भी देखें)। जीव जब तक माया द्वारा निर्मित अज्ञान के पर्दे के

कारण शारीरिक धारणा में रहता है तब तक पृथ्वी पर चौरासी लाख योनियों में आवागमन करता रहता है। जीव उस समय मोक्ष प्राप्त करता है जब उसे अपने अच्छे कर्मों या भगवत्-कृपा से किसी सदगुरु या गीता द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और यह अनुभव कर लेता है कि वह पार्थिव शरीर या कर्ता नहीं है, वरन् परमात्मा का दैवी माध्यम और अभिन्न अंग, आत्मा, है।

ब्रह्माण्डाकाश और घटाकाश में हर वस्तु क्षर कहलाती है। सदाकाश और परमाकाश में हर वस्तु अक्षर (अविनाशी, शाश्वत) कहलाती है। परमात्मा को क्षर और अक्षर दोनों से परे, गीता के श्लोक १५.१८ में, अक्षरातीत कहा गया है।

यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे अर्जुन, मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार तत्त्वतः जाननेवाला ज्ञानी (परा भाव से) निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता (अर्थात् भक्ति और प्रेम करता) है। (७.१४, १४.२६, १८.६६ भी देखें।) (१५.१९)

इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मयाऽनघ ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन, इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गए इस गुह्यतम शास्त्र को तत्त्वतः जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है। (१५.२०)

इस प्रकार पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवां अध्याय पूर्ण होता है।

अथ षोडशोऽध्यायः

दैवासुरसंपद्विभागयोगः

१६. दैवासुरसंपद्विभागयोग

मोक्ष के लिए अर्जित प्रमुख दैवी गुणों की सूची

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर् ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस् तप आर्जवम् ॥१॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस् त्यागः शान्तिर् अपैशुनम् ।

दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं हीर् अचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं दैवीम् अभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, दया, विषयों से न ललचाना, कोमलता, अकर्तव्य में लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, किसी से वैर न करना, गर्व का अभाव आदि दैवी संपदा को प्राप्त हुए मनुष्य के (छब्बीस) लक्षण हैं। (१६.०१-०३)

किसी व्यक्ति को भी किसी और की निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए (म.भा. ३.२०७.५०)। सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही वर्ताव करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं (म.भा. १२.१६७.०६)। जो व्यक्ति जिसके साथ जैसा वर्ताव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही वर्ताव करना चाहिए; यह उचित है। कपटपूर्ण आचरण करनेवाले को वैसे

ही आचरण द्वारा दबाना उचित है और सदाचारी को सद्व्यवहार द्वारा ही अपनाना चाहिए (म.भा. १२.१०६.३०). हम सभी को दूसरों के विकास के लिए मूल्य चुकाना पड़ता है, क्योंकि हम में से कोई भी सम्पूर्ण नहीं है. परनिन्दा जघन्यतम पाप है. व्यक्ति को दूसरों के दोषों और कमियों के बारे में कहना, सुनना, यहां तक कि सोचना भी नहीं चाहिए. जब हम दूसरों की कमियों के बारे में सोचते हैं तब हमारा ही मन दूषित होता है. दूसरों में दोष ढूँढने से किसी को कोई लाभ नहीं होता, अतः व्यक्ति अपने में दोष ढूँढे और उनको ही सुधारे. अप्रिय को प्यार करना, निर्दयी के प्रति दया करना और अभद्र के प्रति शालीन होना दैवी गुण हैं.

हमारी अपनी मान्यताएं भी समस्याएं पैदा कर सकती हैं, यदि हम भूल जाते हैं कि व्यक्तियों की अपनी अलग-अलग मान्यताएं होती हैं. मेरे आदर्श आपके आदर्शों से अलग हो सकते हैं. व्यक्तियों के बीच उनके मूल्यों का संघर्ष सम्बन्धों को हानि पहुंचा सकता है. व्यवहार में कभी-कभी एक ही व्यक्ति के दो मूल्यों में भी संघर्ष हो सकता है. उदाहरणतः यदि एक झूठ बोलने से किसी के मूल्यवान् जीवन की रक्षा होती है, तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति को सच नहीं बोलना चाहिए. आदर्शों के प्रति व्यक्ति की अन्धी आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कोई भी मान्यता अपने में पूर्ण नहीं है. हमें किसी आदर्श के प्रति उपहास का भाव नहीं रखना चाहिए, न ही एक मापदण्ड से सब को आंकना चाहिए, क्योंकि विभिन्नता में मूल एकता सृष्टि की योजना का अंग है.

यह दुनिया हर तरह के लोगों से बनी है. आप दूसरों को बदलना चाहते हैं, ताकि आप स्वयं मुक्त हो सकें, पर ऐसा कभी होता नहीं है. जब आप दूसरों को सम्पूर्णतः बिना शर्त के स्वीकार करेंगे, तभी मुक्त हो पाएंगे. लोग जो हैं, सो हैं, क्योंकि उनकी अपनी पृष्ठभूमि है और वे दूसरी प्रकार के नहीं हो सकते (स्वामी दयानन्द). आपको अपने जीवन-साथी से प्रेम हो सकता है और साथ ही उनके काम से नापसंदगी भी. यदि आप उसे जैसा वह है, वैसा रहने दें, तो आपका शत्रु भी आपका मित्र हो सकता है. और यदि आप किसी को शत्रु बनाना चाहते हैं, तो उसे बदलने की कोशिश करें. लोग तभी बदलेंगे, जब बदलने की अपेक्षा दुःख भोगना अधिक दुष्कर होगा. कोई भी किसी दूसरे की जीवन-पद्धति, चिन्तन-धारा और विचारों को अयोग्य घोषित करने की स्थिति में नहीं है. सम्पूर्णता के सोपान की दिशा में विकास एक बहुत धीमी और कठिन प्रक्रिया है. अतीत के संस्कारों से मुक्ति पाना साधारण काम नहीं, परन्तु व्यक्ति को उसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए. परिवर्तन व्यक्ति के अपने प्रयासों से आता है और वह भी उसी समय जब प्रभु की कृपा होती है, उससे एक भी दिन पहले नहीं. अलग-अलग प्राणियों में आदिशक्ति और चेतना की अभिव्यक्ति भी अलग-अलग होती है. अतः संसार में हर वस्तु से समन्वय की खोज करें और हर वस्तु आपकी मित्र होगी. श्री रामकृष्ण कहते हैं— जब दिव्यता का अवतरण होता है, तब मानवीय त्रुटियां स्वतः ही विलुप्त हो जाती हैं, जैसा कि फूल के फल में विकसित होने पर पंखुड़ियां स्वयं ही झड़ जाती हैं.

मरणशील (मानव) पशुओं की भांति अपने संस्कारों से जन्मी अव्यक्त कामनाओं की रस्सी से बुरी तरह बंधे हैं. यह रस्सी तभी काटी जा सकती है, जब हम प्रभु के द्वारा दिए हुए बुद्धि के चाकू का उपयोग करें, जो पशुओं के पास नहीं है. बाघ अपनी हत्या की प्रवृत्ति से नियंत्रित है और इस अवस्था में वह बेबस है. मानवों को बुद्धि और तर्कशक्ति का वरदान मिला है, जिसके द्वारा वे धीरे-धीरे और सतत इस रस्सी को काट सकते हैं. हम अज्ञानवश अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति का प्रयोग करने में असफल होते हैं. व्यक्ति का शत्रु उसी के दूसरे पक्ष को छोड़कर और कोई नहीं. कभी-कभी प्रारब्ध-जनित विपत्ति के उषाकाल से पूर्व माया-जाल द्वारा बुद्धि हर ली जाती है. व्यक्ति को स्थिति का

विश्लेषण करने के लिए मानव को मिली अमूल्य दिव्य निधि बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। इसके सिवा माया के भयावह चक्र से निकलने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो दूसरों के प्रति मन-वचन-कर्म से हिंसा का व्यवहार नहीं करता, उसे कोई हानि नहीं पहुंचा सकता (वि.पु. १.१६.०५)। जो मनुष्य मन, वाणी और शरीर रूपी साधनों द्वारा प्राणियों की हिंसा नहीं करता, हिंसक प्राणी भी उसकी हिंसा नहीं करते (म.भा. १२.१७५.२७)। जो किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा नहीं करता, वह जो चाहता है, पाता है और सब आध्यात्मिक विषयों में बिना अत्यधिक प्रयास के सफलता पाता है (म.स्मृ. ५.४७)।

मनुष्य को परनिन्दा और आत्मप्रशंसा का परित्याग करना चाहिए (म.भा. ३.२०७.५०)। संसार में अहिंसा से जीविका नहीं चल सकती, क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं (म.भा. १२.१५.२०)। अहिंसा या किसी भी नैतिक मूल्य का पालन सम्पूर्ण अर्थ में करना असम्भव है। कृषि-कर्म में भी कीड़ों-मकोड़ों के प्रति हिंसा होती है। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन परिपूर्णता की दिशा में व्यक्ति के स्वयं के विकास के लिए है। दैनिक व्यावहारिक जीवन में न्यूनतम अनिवार्य हिंसा अपेक्षित है। न्यूनतम हिंसा का निर्धारण करना भी अवश्य ही अत्यन्त व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्तिगत वैमनस्य की तुष्टि के लिए हिंसा का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए। अशक्त की रक्षा या धर्म की मर्यादा को बनाये रखने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है।

त्याज्य आसुरी गुणों की सूची

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यम् एव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदम् आसुरीम् ॥४॥

हे पार्थ, दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा प्राप्त मनुष्यों के लक्षण हैं। (१६.०४)

जिन लोगों ने किसी व्यक्ति की सहायता की है, उनका किसी न किसी रूप में प्रतिकार में भला करना सार्वभौमिक व्यवहार है (वा.रा. ५.०१.११३)। दोषयुक्त मनुष्यों में कृतघ्न सबसे अधम होते हैं। ऐसे नराधमों को दूर से ही त्याग देना चाहिए (म.भा. १२.१६८.२६)। शास्त्र में कृतघ्न के प्रायश्चित्त अथवा उद्धार का कोई विधान नहीं दिया गया है। मित्रद्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न — ऐसे मनुष्यों का मांस मांसभक्षी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते (म.भा. १२.१७२.२५-२६)। यदि कोई व्यक्ति दूसरे से कुछ ग्रहण करता है, तो उसे सच्चे रूप में कृतज्ञता की अनुभूति होनी चाहिए और कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहिए।

दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीम् अभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पदा मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिए है। हे पाण्डव, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त है। (१६.०५)

पापात्मक क्रियाओं के स्वभाव से मुक्त होना बहुत कठिन है। अतः व्यक्ति को पापाचरण से सदा बचना और अच्छे काम करने का अभ्यास करना चाहिए (म.भा. ३.२०६.४१)। मूलभूत नैतिकता आध्यात्मिक जीवन की रीढ़ है। नैतिक गुणों के बिना आत्मज्ञान उतना ही अधूरा है, जितना नमक के बिना भोजन।

केवल दो प्रकार के मानव— ज्ञानी और अज्ञानी
द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे पार्थ, इस लोक में दो ही जाति के मनुष्य हैं दैवी और आसुरी. दैवी प्रकृतिवालों का वर्णन मैंने विस्तारपूर्वक किया है, अब तुम आसुरी प्रकृतिवालों के बारे में सुनो. (१६.०६)

आत्मज्ञान दैवी गुणों के रूप में प्रकट होता है और अज्ञान आसुरी गुणों के रूप में. जिन्होंने पूर्व जन्मों में पुण्य कर्म किए हैं, वे दैवी गुणों के साथ पैदा होते हैं और जो पूर्व जन्म में पापाचारी रहे हैं, उनका जन्म आसुरी वृत्तियों के साथ होता है.

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुर् आसुराः ।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य "क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए" इन दोनों को नहीं जानते हैं. उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि होता है, न सदाचार और न सत्यभाषण ही. (१६.०७)

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुर अनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं किम् अन्यत् कामहेतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि संसार असत्य, आश्रयरहित, बिना ईश्वर के और बिना किसी क्रम से अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के कामुक संयोग से ही उत्पन्न है. इसके सिवा और कोई भी दूसरा कारण नहीं है. (१६.०८)

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्य उग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

ऐसे (मिथ्या, नास्तिक) दृष्टिकोण से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, ऐसे मन्द बुद्धियुक्त, घोर कर्म करनेवाले, अपकारी मनुष्यों का जन्म जगत् का नाश करने के लिए ही होता है. (१६.०९)

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिभ्रताः ॥१०॥

वे दम्भ, मान और मद में चूर होकर; कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञानवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके तथा अपवित्र आचरण धारणकर संसार में रहते हैं. (१६.१०)

चिन्ताम् अपरिमेयां च प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावद् इति निश्चिताः ॥११॥

जीवनभर अपार चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयभोग को ही परम लक्ष्य माननेवाले ये लोग ऐसा समझते हैं कि यह विषयभोग ही सब कुछ है. (१६.११)

आशापाशशतैर् बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशा की सैकड़ों बेड़ियों से बंधे हुए, काम और क्रोध के वशीभूत होकर, विषयों के भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते हैं. (१६.१२)

इदम् अद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदम् अस्तीदम् अपि मे भविष्यति पुनर् धनम् ॥१३॥

(वे ऐसा सोचते हैं कि) मैंने आज यह प्राप्त किया है और अब इस मनोरथ को पूरा करूंगा; मेरे पास इतना धन है तथा इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा. (१६.१३)

असौ मया हतः शत्रुर् हनिष्ये चापरान् अपि ।

ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा. मैं सर्वसमर्थ (ईश्वर) और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ. मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ (१६.१४)

आढ्योऽभिजनवान् अस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्य् अज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं बड़ा धनी और अच्छे परिवारवाला हूँ. मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा. इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं. (१६.१५)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार से प्रमित चित्तवाले, मोहजाल में फंसे, विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त, ये लोग चोर अपवित्र नरक में गिरते हैं. (१६.१६)

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस् ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपनेआप को श्रेष्ठ माननेवाले, घमंडी, धन और मान के मद में चूर रहनेवाले मनुष्य अविधिपूर्वक नाममात्र के दिखावटी यज्ञ करते हैं. (१६.१७)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसुयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध के वशीभूत, दूसरों की निन्दा करनेवाले ये लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं. (१६.१८)

अज्ञान का फल है दुःख

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्य् अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्व् एव योनिषु ॥१९॥

ऐसे द्वेष करनेवाले, क्रूर और अपवित्र नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ. (१६.१९)

आसुरीं योनिम् आपन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

माम् अप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्य् अधमां गतिम् ॥२०॥

हे अर्जुन, वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं, फिर चोर नरक में जाते हैं. (१६.२०)

अच्छी और बुरी शक्तियों के बीच अन्तहीन संग्राम प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जारी है. आदमी का जन्म आसुरी वृत्तियों का, जो ब्रह्मज्ञान अर्थात् ईश्वरप्राप्ति के द्वार में बाधक हैं, दमन करने के लिए होता है. प्रभु तभी प्रकट होते हैं, जब हमारे भीतर का दानव पूर्णतः नियंत्रित कर लिया जाता है. आत्मा में भौतिक प्रकृति के तीनों गुण नहीं होते. ये गुण मूलतः तन-मन के हैं. शास्त्रों का कहना है - माया अनेक विपरीत द्वित्वों को जन्म देती है, जैसे अच्छाई-बुराई, हानि-लाभ, सुख-दुख, आशा-निराशा, करुणा और उदासीनता, उदारता और लोभ, श्रम और आलस्य, साहस और कायरता, प्रेम और घृणा, सद्गुण और अवगुण, दैवी और आसुरी वृत्तियाँ. वस्तुतः उनकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है. अतः दूसरों के गुणों और दोषों पर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है (भा.पु. ११.१६.४५, तु.रा. ७.४१.००)

काम-क्रोध-लोभ नरक के तीन द्वार

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनम् आत्मनः ।

कामः क्रोधस् तथा लोभस् तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ, ये जीव को नरक की ओर ले जानेवाले तीन द्वार हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना (सीखना) चाहिए. (म.भा. ५.३३.६६ भी देखें.) (१६.२१)

उपनिषद् का कहना है: (काम, क्रोध, लोभ, माया और मोह का) स्वर्ण-द्वार प्रभु के मार्ग में बाधक है (ईशा.उ. १५). यह द्वार व्यक्ति के सतत प्रयास से ही खोला जा सकता है. काम, क्रोध और लोभ मानवों के स्वर्ग में प्रवेश को नियंत्रित करने के लिए और उन्हें नरक की ओर ले जाने के लिए बने हैं. मन से काम, क्रोध और लोभ तभी तिरोहित हो सकते हैं, जब यह समझ लिया जाता है कि 'मैं' और 'मेरा' जैसा कुछ नहीं है. आधुनिक सभ्यता का भौतिक वस्तुओं के अधिग्रहण का अनियंत्रित लोभ प्राकृतिक पर्यावरण को ही नष्ट करके, जो जीवन और सभ्यता का मूल आधार है, अधिग्रहणकर्ता का ही विनाश कर सकता है.

स्वार्थ-भावना और काम ही सब बुराइयों की जड़ है. सांसारिक इच्छाएं सब आसुरी वृत्तियों का भी मूल है. आसुरी या नकारात्मक वृत्तियां जैसे क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, घृणा और छल इच्छाओं से ही पैदा होते हैं. उनको पाप भी कहा जाता है. पूर्ति होने पर इच्छा और इच्छाओं को जन्म देती है और उससे लोभ पैदा करती है. क्रोध अस्थायी पागलपन है. लोग जब क्रुद्ध होते हैं, तब पापा-चरण करते हैं. उन्माद के वश में जो लोग जल्दबाजी में कुछ करते हैं, वे बाद में पछताते हैं. अज्ञान काम के लिए उत्तरदायी है, अतः काम आत्मज्ञान पाकर ही समाप्त किया जा सकता है. काम आत्मज्ञान को भी ढक लेता है, जैसे बादल सूरज को ढक लेता है. व्यक्ति को इच्छाओं को संतोष से और क्रोध को क्षमा से नियंत्रित करना सीखना चाहिए. जिन्होंने इच्छाओं को जीत लिया है, उन्होंने वास्तव में विश्व को जीत लिया है और वे शान्त, स्वस्थ और सुखी जीवन बिताते हैं.

एतैर् विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस् त्रिभिर् नरः ।

आचरत्य् आत्मनः श्रेयस् ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे अर्जुन, नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त व्यक्ति अपने कल्याण के लिए आचरण करता है, इससे वह परमगति अर्थात् मुझे प्राप्त करता है. (१६.२२)

काम, क्रोध और लोभ माया की सेना के सेनापति हैं. उन पर विजय पाकर ही मोक्ष सम्भव है. आसुरी वृत्तियों से मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग गीता द्वारा विवेचित रास्तों में से किसी एक का अनुसरण करना तथा शास्त्रीय आदेशों का पालन करना है.

शास्त्रीय विधान का पालन अनिवार्य

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, उसे न पूर्णत्व की सिद्धि मिलती है, न परमधाम और न सुख ही. (१६.२३)

उनके लिए संसार मधुरता और सुन्दरता से परिपूर्ण हो जाता है, जो अपना जीवन शास्त्रों के विधान के अनुसार जीते हैं (ऋ.वे. १.६०.०६). शास्त्र समाज के लिए एक रूपरेखा है. उसमें जीवन के हर पहलू पर विचार होता है और वह समाज में सब पुरुष, स्त्री और बच्चों के उचित विकास के लिए आधारभूत नियम निर्धारित करता है. उदाहरण के लिए, मनु ने कहा है— स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए और उनके प्रति अत्यधिक स्नेह

रखना चाहिए. जहां स्त्रियों का आदर होता है, वहां देवता सहर्ष वास करते हैं. स्त्रियों को हमेशा प्यार करना चाहिए और उनकी रक्षा करनी चाहिए. बचपन में पिता उसकी रक्षा करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में बेटे उसकी रक्षा करते हैं (म.स्मू. ३.५६). बुरे चित्तवाले पुरुषों की कामुक दृष्टि से स्त्रियों की रक्षा आवश्यक है. सन्त तुलसीदास जी ने कहा है— धीरज, धरम, मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी. एक दूसरे के प्रति मन-कर्म-वचन से समर्पित होना ही पति-पत्नी के लिए एकमात्र धर्म, प्रतिज्ञा और कर्तव्य होना चाहिए. बाइबिल का कहना है— पुरुष का अपनी पत्नी से अपने शरीर-जैसा प्यार होना चाहिए और स्त्री को देखना चाहिए कि वह पति का आदर करे. प्रभु से डरते हुए एक दूसरे का आदर और अपने को समर्पित करो (एफेसिअन्स ५.२१-३३).

किसी भी धर्मग्रन्थ की आलोचना नहीं करनी चाहिए, न उसमें कमियां ही निकालनी चाहिए, क्योंकि धर्मग्रन्थ धर्म और समाज-व्यवस्था की आधारशिला हैं. धर्मग्रन्थों का अनुसरण करने मात्र से ही व्यक्ति नाम, प्रसिद्धि, शान्ति और मुक्ति पा सकता है (म.स्मू. २.०६). धर्मशास्त्र का अध्ययन मन को उच्च विचारों में लीन रखता है और स्वयं में ही एक साधना है. शास्त्रों के सत्य के अनुसरण से मुक्ति होती है, केवल भाषण देने से ही नहीं. गुरु नानकदेव ने कहा है: जो केवल दूसरों को उपदेश देता है और स्वयं उसका आचरण नहीं करता, वह बार-बार जन्म लेगा.

प्रभु, गीता और गुरु को ज्ञानोदय का मार्गदर्शन कराने दो. मायाजाल से मानवों की मुक्ति स्वयं की बुद्धिमत्ता से सम्भव नहीं है. उन्हें निष्ठापूर्वक शास्त्रों का अनुसरण करना चाहिए. विशेषतः इस युग में, जब सच्चे गुरु का मिलना बहुत कठिन है. शास्त्रों की उदात्त शिक्षा के प्रति निष्ठा सब बुराइयों को दूर रखेगी और अच्छाइयों को लायेगी. यदि एक पुल का निर्माण हुआ है, तो चींटी भी नदी को आसानी से पार कर लेगी, चाहे नदी जितनी भी बड़ी हो. इसी प्रकार मायारूपी नदी को पार करने के लिए धर्मग्रन्थ पुल है. अतः व्यक्ति को सदा उस व्यक्ति के मार्गदर्शन का अनुसरण करना चाहिए, जो शास्त्रों का जाननेवाला है, जैसा कि प्रभु ने निम्न श्लोक में कहा है—

तस्माच्च्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि ॥२४॥

मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है. अतः तुम्हें शास्त्रोक्त विधान के अनुसार ही अपना कर्तव्यकर्म करना चाहिए. (१६.२४)

पतंजलि ऋषि के अनुसार (प.यो.सू. २.३०-३२) सनातन धर्म के दस धर्मदेश हैं: (१) अहिंसा. (२) सत्य. (३) अस्तेय (चोरी नहीं करना). (४) ब्रह्मचर्य. (५) अलोभ. (६) मन-कर्म-वचन की पवित्रता. (७) संतोष. (८) संयम. (९) स्वाध्याय और (१०) भक्तिनिष्ठा के साथ प्रभु को समर्पण.

इन मूल दस शिक्षाओं की तुलना बाइबिल की दस मूल शिक्षाओं से कीजिये: (१) तुम हत्या नहीं करोगे. (२) झूठ नहीं बोलोगे. (३) चोरी नहीं करोगे. (४) परस्त्री-गमन नहीं करोगे (५) लोभ नहीं करोगे. (६) पत्नी का त्याग नहीं करोगे. (७) दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जो स्वयं के प्रति चाहते हो. (८) यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो तुम दूसरा गाल उसके सामने कर दोगे. (९) पड़ौसी को अपने-जैसा ही प्यार करोगे और (१०) सम्पूर्ण हृदय से प्रभु को प्यार करोगे.

बौद्धधर्म का आष्टांगिक आर्ष मार्ग है: सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार (संकल्प), सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयास, सम्यक् स्मृति और सम्यक्

समाधि. सब बुराइयों से बचना, शुभ कर्म करना और मन का शुद्धीकरण बुद्ध भगवान् का सिद्धान्त है.

इस्लाम के पांच आधारभूत सिद्धान्त हैं: (१) कलमा, अर्थात् प्रभु में, प्रभु के संदेश में और प्रभु के संदेशवाहक (मसीहा) में निष्ठा. (२) नमाज़ — आध्यात्मिक विकास के लिए प्रभु की महिमा, महानता और संदेश पर ध्यान तथा प्रार्थना करना. (३) ज़कात — दान देकर दूसरों की सहायता करना. (४) रोज़ा — रमज़ान के महीने में आत्मशुद्धि के लिए उपवास तथा संयम और (५) हज़ — पवित्र तीर्थस्थानों, विशेषतः मक्का, की यात्रा.

सभी मनीषियों ने हमें प्रभु द्वारा उद्घाटित सत्य प्रदान किया है. भगवान् कृष्ण ने प्रत्येक व्यक्ति में दैवी सत्ता के दर्शन कर आध्यात्मिक एकता की अनुभूति की शिक्षा दी है. बुद्ध ने आत्मशुद्धि और सब प्राणियों के प्रति करुणा भाव की शिक्षा दी है. ईसा मसीह ने सब प्राणियों को अपने-जैसा ही प्यार करने को कहा है. मुहम्मद ने ईश्वरेच्छा के सम्मुख समर्पण करने और उनके निमित्त के रूप में काम करने की शिक्षा दी है.

किन्तु कुछ धर्मों में केवल अपने ही मतालम्बियों को प्रभु का चहेता समझा जाता है और दूसरों को म्लेच्छ, काफिर आदि कहा जाता है. वेदों की शिक्षा न केवल धार्मिक सहिष्णुता की है, बल्कि सब दूसरे धर्मों और मसीहाओं को अपने धर्म और मसीहों के समान ही मान देने की है. वेद का कहना है — सब दिशाओं से उदात्त विचार हमारे पास आएँ (ऋ.वे. १.८६.०१). विभिन्न धार्मिक शिक्षाएँ प्रभु की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं. उनका सम्मान किया जाना चाहिए, न कि विभाजन के उपकरणों की भांति उनका प्रयोग. मानवता का गौरव और कल्याण जाति-धर्मों की एकता में निहित है (स्वामी हरिहर). धर्म का सच्चा ज्ञान मतमतान्तरों की दीवारों सहित सब दीवारों को तोड़ता है (गांधी). जो धर्म भगवान् के नाम से लोगों में झगड़ा और घृणा की दीवार खड़ा करता है, वह धर्म नहीं है, छलवेष में स्वार्थ की राजनीति है. शास्त्रों — लोकोत्तर अनुभवातीत ज्ञान — की वाणी की मानवीय व्याख्याओं में अन्तर अक्षरशः अर्थ लेने, पक्षपातपूर्ण द्वेष, अज्ञान, संदर्भहीन उदाहरण के साथ तोड़-मरोड़ करने, गलत अर्थ लगाने और व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से अन्तर्दर्शन (जोड़-तोड़) करने के कारण ही है.

इस प्रकार देवासुरसंपदविभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण होता है.

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागयोगः

१७. श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वम् आहो रजस् तमः ॥१॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, जो व्यक्ति शास्त्र-विधि छोड़कर केवल श्रद्धापूर्वक ही पूजा आदि करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है? क्या वह सात्त्विक है अथवा राजसिक या तामसिक है? (१७.०१)

आस्था के तीन प्रकार

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— मनुष्यों की स्वाभाविक श्रद्धा (अर्थात् निष्ठा) तीन प्रकार की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होती है, उसे सुनो. (१७.०२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे अर्जुन, सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके स्वभाव (तथा संस्कार) के अनुरूप होती है. मनुष्य अपने स्वभाव से जाना जाता है. मनुष्य जैसा भी चाहे वैसा ही बन सकता है (यदि वह श्रद्धापूर्वक अपने इच्छित ध्येय का चिन्तन करता रहे). (१७.०३)

यदि मनुष्य उकताहट में न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चय के साथ प्रयत्न करता रहे तो देवाधिदेव भगवान् शिव के प्रसाद से शीघ्र ही मनोवांछित फल पा लेता है (म.भा. १२.१५३.११६). शुद्ध मन वाला व्यक्ति जो भी चाहता है, उन पदार्थों की प्राप्ति उसे हो जाती है (मु.उ. ३.०१.१०). सत्कर्म करनेवाला अच्छा बन जाता है और दुष्कर्म करनेवाला बुरा. पुण्य कर्मों से व्यक्ति पुण्यात्मा और पाप कर्मों से दुष्टात्मा बन जाता है (बुह.उ. ४.०४.०५). व्यक्ति वही हो जाता है, जिसका वह सतत रूप से गहन चिन्तन करता है, कारण चाहे जो भी हो — श्रद्धा, भय, ईर्ष्या, प्यार या घृणा भी (भा.पु. ११.०६.२२). जिसकी तुम्हें तलाश है — जानबूझकर या अनजाने — सदा वही मिलेगा, विचार से कर्म पैदा होता है, शीघ्र ही कर्म स्वभाव बन जाता है और स्वभाव किसी भी उद्यम में सफलता की ओर ले जाता है.

हम स्वयं अपने ही विचारों और कामनाओं की उपज हैं — अपने ही निर्माता. जहां चाह है, वहां राह है. हमें उत्तम विचारों को ही मन में स्थान देना चाहिए, क्योंकि विचार कर्म के पूर्वगामी हैं. विचार हमारे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और आध्यात्मिक कल्याण को भी नियंत्रण में रखते हैं. हमारे अपने भीतर ही इतनी शक्ति है, किन्तु विडम्बना यह है कि हम उसका उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं. यदि तुम्हारे पास वह नहीं है, जो तुम चाहते हो, तो तुम उसके प्रति सौ फीसदी निष्ठ नहीं हो. जीवन से सर्वश्रेष्ठ की कामना नहीं करनी चाहिए, यदि तुम उसे अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे सकते. सफलता धीरे-धीरे लिए गए पगों की शृंखला है. स्टीफेन कोवे का कथन है: "अपने भविष्य की भविष्यवाणी करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका अपने भविष्य का निर्माण करना ही है." हर महान् उपलब्धि एक समय असम्भव ही समझी जाती है. मानवीय भावना और मन की शक्ति और क्षमता को कभी कम मत समझो. गीता के इस अकेले मंत्र की शक्ति को व्यवहार में प्रयोग करने के लिए अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और प्रेरणादायक कार्यपद्धतियों का विकास किया गया है.

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक व्यक्ति देवी-देवताओं को पूजते हैं; राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसों को तथा तामस व्यक्ति भूतों और प्रेतों की पूजा करते हैं. (१७.०४)

अशास्त्रविहितं चोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्य आसुरनिश्चयान् ॥६॥

जो लोग शास्त्रविधि से रहित चोर तप करते हैं, जो दम्भ और अभिमान से युक्त हैं, जो कामना और आसक्ति से प्रेरित हैं, जो शरीर में स्थित पंचभूतों को और सबके अन्तःकरण में रहनेवाला मुझ परमात्मा को भी कष्ट देनेवाले अविवेकी लोग हैं, उन्हें तुम आसुरी स्वभाववाले जानो. (१७.०५-०६)

भोजन के तीन प्रकार

आहारस् त्व अपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस् तपस् तथा दानं तेषां भेदम् इमं शृणु ॥७॥

सबका प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं. उनके भेद तुम मुझसे सुनो. (१७.०७)

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले; रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा शरीर को शक्ति देनेवाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्रिय होते हैं. (१७.०८)

व्यक्ति को जीवन की रक्षा और पोषण के लिए शुद्ध सात्त्विक भोजन वैसे ही ग्रहण करना चाहिए, जैसे रोगी जीवनरक्षा के लिए औषधि का सेवन करता है (म.भा. १२.२१२.१४). जो कुछ भी व्यक्ति खाता है, उसके इष्टदेव भी उसी का सेवन करते हैं (वा.रा. २.१०४.१५). (गीता ८.२४ भी देखें.) (क्योंकि) मैं तुम हूँ और तुम मैं हो (ब्र.सू. ३.३.३७). जो भोजन हम करते हैं, वह तीन भागों में विभाजित हो जाता है. भोजन का स्थूलतम भाग शौच में परिवर्तित हो जाता है, मध्यम भाग से मांस, रक्त, मज्जा और अस्थि बनते हैं. सूक्ष्मतम भाग, वीर्य, ऊर्ध्वगामी होकर प्राणों से मिलकर मस्तिष्क और शरीर के सूक्ष्म अवयवों का पोषण करता है (छा.उ. ६.०५.०५-६.०६.०२). भोजन को जीवन-वृक्ष की जड़ कहा जाता है तथा आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए स्वस्थ तन और मन अनिवार्य हैं. मन स्वस्थ तभी होगा, जब तन स्वस्थ हो. सात्त्विक वृत्तिवाले व्यक्ति शाकाहारी भोजन करते हैं. शाकाहारी भोजन करने से व्यक्ति आर्ष पुरुष बन सकता है, क्योंकि व्यक्ति वैसा ही बनता है, जैसा वह भोजन करता है.

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले; बहुत कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक आहार राजसिक व्यक्ति को प्रिय होते हैं. (१७.०९)

यातयामं गतरसं पृति पर्युषितं च यत्

उच्छिष्टम् अपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा और (मांस, मदिरा आदि) अपवित्र आहार तामसिक मनुष्य को प्रिय होता है. (१७.१०)

मन की शुद्धि भोजन की पवित्रता से होती है. शुद्ध मन में ही सत्य का उद्घाटन होता है. सत्य के जानने के बाद व्यक्ति सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है (छा.उ. ७.२६.०२). जुआ, मदिरापान, अवैध यौन-सम्बन्ध और मांसाहार के मानवों में स्वाभाविक नकारात्मक प्रवृत्ति हो सकते हैं, किन्तु इन चारों से निवृत्ति पाना सचमुच दिव्य है. पाप के इन चार स्तम्भों से व्यक्ति को परहेज रखना चाहिए (भा.पु. १.१७.३८). मांसाहार से परहेज करना एक सौ पावन यज्ञ करने के समान है (म.सू. ५.५३.५६).

यज्ञ के तीन प्रकार

अफलाकाङ्क्षिभिर् यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यम् एवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है— ऐसा सोचकर, बिना फल की आशा करनेवालों द्वारा विधिपूर्वक किया गया यज्ञ सात्त्विक है. (१७.११)

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थम् अपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे अर्जुन, जो यज्ञ फल की इच्छा से अथवा दिखाने के लिए किया जाता है, उसे तुम राजसिक समझो. (१७.१२)

विधिहीनम् असृष्टान्नं मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शास्त्रविधि, अन्नदान, मंत्र, दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किए जानेवाले यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहते हैं. (१७.१३)

साधना मंत्र के बिना अपूर्ण है और मंत्र साधना के बिना अपूर्ण है (देवी.भा. ७.३५.६०).

विचार, वाणी, और कर्म का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनं शौचम् आर्जवम् ।

ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवी-देवता, पुरोहित, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन; पवित्रता, सदाचार, ब्रह्मचर्य और अहिंसा; इन्हें शारीरिक तप कहा जाता है. (१७.१४)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अशान्ति पैदा न करे, जो सत्य, मधुर और हितकारक हो तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो. ऐसी अच्छी वाणी को वाणी का तप कहते हैं. (१७.१५)

सत्य का मार्ग आध्यात्मिक विकास का मार्ग है. उपनिषद् का कहना है — अन्त में सत्यवादी ही विजयी होता है, मिथ्यावादी नहीं. सत्य ही वह दैवी मार्ग है जिसके द्वारा सन्त-मुनि, जो इच्छाओं से मुक्त हो चुके हैं, ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं (मु.उ. ३.०१.०६). सत्याचारी होना अभीष्ट है. हितकारक वचन बोलना सच बोलने से श्रेयस्कर है. धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है. जिससे प्राणियों का अधिकतम हित होता हो, वही मेरे विचार से वास्तविक सत्य है (म.भा. १२.३२६.१३). इसके विपरीत जिससे किसी का अहित होता हो या दूसरों के प्राण जाते हों, वह देखने में सत्य होने पर भी वास्तव में असत्य एवं अधर्म है (म.भा. १२.२०६.०४). सत्य की रक्षा में झूठ बोला जा सकता है, किन्तु असत्य की रक्षा के लिए सत्य मत बोलो.

बुद्धिमान् व्यक्ति को सच बोलना चाहिए, यदि वह हितकर है और मौन रहना चाहिए यदि सच बोलना हानिकर है. व्यक्ति को हितकर सत्य बोलना चाहिए, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय. अहितकर वाणी, जैसे चाटुकारिता, से बचना चाहिए (वि.पु. ३.१२.४४). प्रिय वाणी सब के लिए हितकर है. मधुरवाणी बोलनेवाला सबका मन जीत लेता है और सर्वप्रिय होता है (म.भा. १२.८४.०४). कठोर वचनों द्वारा पहुँचाया हुआ घाव बहुत कठिनता से भरता है. बुद्धिमानों को किसी दूसरे को ऐसे घाव नहीं देने चाहिए (म.भा. ५.३४.८०). वाणी की मधुरता और मन की शान्ति सच्चे योगी के लक्षण हैं (स्वामी आत्मानन्द गिरि). यदि अत्यन्त आवश्यक हो तो जीवन, सम्पत्ति और धर्म की रक्षा के लिए, प्रणय-निवेदन काल में और विवाह करने के हेतु असत्य बोला जा सकता है (म.भा. १२.१०६.१६). पति और पत्नी को सुधार का प्रयास करना चाहिए और मधुर प्यार से एक दूसरे की सेवा से

पारस्परिक विकास में मदद करनी चाहिए, जैसे कि एक गाय चाटकर अपने बछड़े की शुद्धि करती है. एक दूसरे के प्रति उनके वचन ऐसे मधुर होने चाहिए, जैसे कि वे शहद में पगे हों (अथ.वे. ३.३०.०१-०२).

सत्य सब उदात्त गुणों का मूल है. सत्य की कड़वी गोली को मधुरता के मधु में पगाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए. मधुर रीति से सत्याचरण करो किन्तु मधुरता के लिए सत्य मार्ग से विचलित न होओ. शालीनता के साथ स्पष्टवादिता का व्यवहार करो, चाटुकारिता से बचो. वाणी को सदा हितकर, सत्य और मधुर होना चाहिए. बाइबिल का कहना है— व्यक्ति के अन्दर जो जाता है, वह उसे अपावन नहीं करता है; बल्कि, जो उसके मुख से निकलता है, वह उसे अशुद्ध करता है (मैत्थ्यु १५.११).

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिर् इत्य् एतत् तपो मानसम् उच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सरलता, चित्त की स्थिरता, मन का नियंत्रण और शुद्ध विचार— इन्हें मानसिक तप कहते हैं. (१७.१६)

तप के तीन प्रकार

श्रद्धया परया तप्तं तपस् तत् त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर् युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

बिना फल की इच्छा से, परम श्रद्धापूर्वक किए गए उपरोक्त तीनों प्रकार मन, वाणी और शरीर के तप को सात्त्विक तप कहते हैं (१७.१७)

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में रखना तथा सबके प्रति दया बनाये रखना — इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप माना है. केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है (म.भा. १२.७६.१८). विचारों की शुद्धता के बिना वचन और कर्म की शुद्धि सम्भव नहीं है.

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तद् इह प्रोक्तं राजसं चलम् अध्रुवम् ॥१८॥

जो तप दूसरों से सत्कार, मान और पूजा करवाने के लिए अथवा केवल दिखाने के लिए ही किया जाए, ऐसे अनिश्चित और क्षणिक फलवाले तप को राजसिक तप कहा गया है. (१७.१८)

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसम् उदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को क्षति पहुंचाने के लिए किया जाता है, उसे तामसिक तप कहा गया है. (१७.१९)

दान के तीन प्रकार

दातव्यम् इति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान देना हमारा कर्तव्य है— ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के अनुसार बिना प्रत्युपकार की इच्छा से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है. (१७.२०)

सात्त्विक भाव से किया गया दान श्रेष्ठतम शुद्धिकारक, हितकर और धार्मिक कार्य है. वह दाता और प्राप्तकर्ता दोनों के लिए समान रूप से हितकारी है. जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र एवं कल्याणकारी है. दान देना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक व्रत की पूर्ति से भी बढ़कर है (म.भा. १३.१२०.१५-१६). कौन किसका उपकार करता

है, कौन किसको देता है? कोई भी दूसरों के लिए कुछ भी नहीं करता; सब अपने ही भले के लिए करते हैं। प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने भले के लिए ही करता है। दूसरों के लिए किए गए परोपकारी कार्य भी वस्तुतः अपने ही भले के लिए किए जाते हैं (म.भा. १२.२६२.०१)। प्राप्तकर्ता नहीं, दाता ही सौभाग्यशाली है। योगीराज मुमताञ्ज अली कहते हैं कि जब तुम किसी प्रकार भी अपने से कम भाग्यशाली व्यक्ति की भौतिक या आध्यात्मिक सेवा करते हो, तो तुम उस पर कोई अहसान नहीं कर रहे हो। वास्तव में, जो तुम्हारी सहायता पाता है, वही अहसान करता है — वह स्वीकार कर जो तुम उसे देते हो। क्योंकि, वैसा करके वह तुम्हारे विकास में मदद करता है और सहायक होता है तुम्हें दिव्यात्मा के समीप जाने में, जो वस्तुतः हम सब के भीतर बैठा है।

नाम और प्रसिद्धि के लोभवश स्वीकार किया अनावश्यक दान लेनेवालों को बहुत हानि पहुंचाता है। अनुचित दान दाता और प्राप्तकर्ता दोनों के लिए हानिकारक है (म.स्मृ. ४.१८६)। दो, जो तुम दे सकते हो — प्यार, ज्ञान, सहायता, सेवा, प्रार्थना, भोजन — पर प्रतिदान की अपेक्षा न करो। प्यार — सबसे कम मूल्यवाला दान — में प्रभु के राज्य में प्रवेश करने की कुंजी निहित है। दान श्रेष्ठतम ही नहीं, वरन् धन का एकमात्र उपयोग भी है। किन्तु दान के लिए प्राप्त सभी योग्य आवेदनों पर संवेदनशीलता और व्यवहारकुशलता (कूटनीति) के साथ विचार करना चाहिए, क्योंकि दान की अस्वीकृति नकारात्मक, अहितकर, भाव पैदा कर सकती है। यदि तुम दान या भेंट देते हो, तो अपने वास्तविक उद्देश्य, अपनी असली नीयत का विवेचन करो।

जो अधर्म के द्वारा कमाए हुए धन से पारलौकिक कर्म करता है, वह मरने के बाद उसके फल को नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्ते से आया होता है (म.भा. ५.३६.६६)। यदि धर्म से ही प्रयोजन हो, तो धन की इच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। धर्मात्मा पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा से न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो। धन यदि अनुचित साधनों से अर्जित किया गया है, तो दान का कोई मूल्य नहीं। पुण्य या दान कार्यों के लिए अनुचित साधनों द्वारा धन प्राप्त करना वैसा ही है, जैसा अपने वस्त्र मलिन करके फिर उन्हें धोना। पहले ही वस्त्र को मलिन न करना मलिन करने के बाद उसे धोने से अच्छा है (म.भा. ३.०२.४६-५०)। अनुचित साधनों से श्रेष्ठ ध्येय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। साधन और साध्य पूर्णतः अभिन्न हैं (स्टीफेन कोवे)। भौतिक वस्तुओं और धन देकर हर किसी की सहायता करना सम्भव नहीं है। संकट या आवश्यकता के समय दूसरों के — उनके भी, जो अपने प्रियजनों की सूची में नहीं हैं — दैहिक और आत्मिक कल्याण के लिए प्रार्थना करना मानसिक दान कहलाता है।

यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलम् उद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिवर्त्तिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान फल-प्राप्ति, प्रत्युपकार की इच्छा से अथवा बिना श्रद्धा से दिया जाता है, वह दान राजसिक कहा गया है। (१७.२१)

ईसा ने कहा है: जब तुम किसी जरूरतमन्द को कोई वस्तु दो, तो उसका प्रदर्शन मत करो, बल्कि जब तुम किसी की सहायता करो, तो इस प्रकार करो कि तुम्हारा निकटतम मित्र भी इसके बारे में न जाने (मैथ्यू ६.०२-०३)। गुप्तदान ही श्रेष्ठतम दान है। कुपात्र या गलत कार्य के लिए दान देना और सुपात्र को न देना, दोनों ही अनुचित हैं और दान न देने से भी बुरे हैं। जो दान बिना याचना के मिल जाता है, वह श्रेष्ठ है। याचना से मिला दान उससे कम श्रेष्ठ है। जो दान अनिच्छा से दिया जाता है, या दानी पर दबाव डालने से विवशता में दिया गया है, वह त्याज्य है।

अदेशकाले यद् दानम् अपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतम् अवज्ञातं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

जो दान देश, काल और पात्र का विचार किए बिना अथवा पात्र का अनादर या तिरस्कार करके दिया जाता है, वह दान तामसिक कहा गया है. (१७.२२)

अपने से कम भाग्यशाली व्यक्तियों का लिहाज रखो और उनके प्रति सहानुभूति रखो. दान लेनेवाले को नीचा दिखाये बिना दिया जाना चाहिए. लेनेवाले को नीचा दिखाकर दिया दान दाता को विनष्ट कर देता है (वा.रा. १.१३.३३). व्यक्ति को सदा याद रखना चाहिए कि ईश्वर ही दाता और प्राप्तकर्ता दोनों है.

ब्रह्म के तीन नाम

ॐ तत् सद् इति निर्देशो ब्रह्मणस त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास् तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ब्रह्म के—जिनके द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है—ओम्, तत् और सत् तीन नाम कहे गए हैं. (१७.२३)

तस्माद् ओम् इत्यु उदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए, परब्रह्म परमात्मा को जाननेवालों द्वारा (शास्त्रविधि से) किए हुए यज्ञ, दान, तप आदि वैदिक क्रियाओं का प्रारम्भ सदा परमात्मा के ओंकार नाम के उच्चारण से ही होता है. (१७.२४)

तद् इत्यु अनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

फल की इच्छा नहीं रखनेवाले मुमुक्षुओं द्वारा नाना प्रकार के यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं 'तत्' शब्द का उच्चारण करके की जाती हैं. (१७.२५)

सद्भावे साधुभावे च सद् इत्यु एतत् प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे पार्थ, 'सत्' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अस्तित्व, अच्छे भाव तथा शुभ कर्म के लिए भी होता है. (१७.२६)

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सद् इति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सद् इत्यु एवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में श्रद्धा तथा परमात्मा के लिए किए जानेवाले (निष्काम) कर्म को भी 'सत्' कहते हैं. (१७.२७)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस् तप्तं कृतं च यत् ।

असद् इत्यु उच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ, यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ भी कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह 'असत्' कहा जाता है, जिसका न इस लोक में और न परलोक में ही कोई प्रयोजन है.

(१७.२८)

इस प्रकार श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय पूर्ण होता है.

अथ अष्टादशोऽध्यायः
मोक्षसंन्यासयोगः
१८. मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोले— हे महाबाहो, हे अन्तर्यामिन्, हे वासुदेव; मैं संन्यास और त्याग को तथा इनके भेद को अच्छी तरह जानना चाहता हूँ. (१८.०१)

संन्यास और त्याग की परिभाषा

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्व त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले— सकाम कर्मों के परित्याग को ज्ञानीजन 'संन्यास' कहते हैं; तथा विवेकी मनुष्य सभी कर्मों के फलों (में आसक्ति) के त्याग को 'त्याग' कहते हैं. (५.०१, ५.०५, ६.०१ भी देखें.) (१८.०२)

संन्यासी के पास कोई अपनी सम्पत्ति नहीं होती. सच्चा संन्यासी दूसरों के लिए काम करता है. वह दूसरों पर (भार बनकर) नहीं, दूसरों के लिए ही, जीता है. संन्यास का अर्थ है— कृतित्व, स्वामित्व और कर्म-निहित व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का पूर्ण परित्याग; जबकि त्याग का अर्थ है समस्त कर्मों के फल के प्रति मोह को तिलांजलि देना अथवा मात्र प्रभु के लिए कर्म करना. प्रभु के लिए सेवा करनेवाला त्यागी या कर्मयोगी कहलाता है. इस प्रकार जो त्यागी यह सोचता है कि वह प्रभु को प्रसन्न करने के लिए ही सब कर्म करता है, उसे हर समय प्रभु का स्मरण रहेगा. अतः श्लोक १२.१२ में कहा गया है कि त्याग सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मयोग है, आध्यात्मिक अभ्यास है. गीता में त्याग और संन्यास शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में किया गया है, क्योंकि इन दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है (देखें श्लोक ५.०४, ५.०५, ६.०१ और ६.०२). गीता के अनुसार संन्यास का अर्थ वन में या समाज से बाहर किसी अन्य निर्जन स्थान में रहना नहीं है.

प्रत्येक व्यक्ति मन की शान्ति चाहता है और वह केवल कर्मफल के मोह के बिना प्रभु (अर्थात् समाज) के लिए कर्म करनेवाले के लिए ही सम्भव है, जो अपने कर्मों के फल प्रभु को अर्पित कर देता है. यह अपने गुरु को सब भौतिक सम्पत्ति अर्पित कर देना नहीं है, जैसा कि कुछ मत-मतान्तर प्रचारित करते हैं.

त्याज्यं दोषवद् इत्य् एके कर्म प्राहर् मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् इति चापरे ॥३॥

कुछ महात्मा लोग कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं और दूसरे लोगों का कहना है कि यज्ञ, दान और तप त्याज्य नहीं हैं. (१८.०३)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे अर्जुन, त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो. हे पुरुषश्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है. (१८.०४)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यम् एव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप साधकों के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं. (१८.०५)

एतान्य अपि तु कर्माणि सद्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतम् उत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ, इन कर्मों को भी फल की आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए, ऐसा मेरा दृढ़ उत्तम मत है. (१८.०६)

त्याग के तीन प्रकार

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात् तस्य परित्यागस् तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

हे अर्जुन, कर्तव्यकर्म का त्याग उचित नहीं है. भ्रमवश उसका त्याग करना तामसिक त्याग कहा गया है. (१८.०७)

दुःखम् इत्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सभी कर्म दुःखरूप है— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक कष्ट अथवा कठिनाई के भय से अपने कर्तव्यकर्म को त्याग दे, तो वह ऐसा राजसिक त्याग करके त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता. (१८.०८)

कार्यम् इत्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सद्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

"कर्म करना कर्तव्य है" ऐसा समझकर, हे अर्जुन, जो नियत कर्म फल की आसक्ति त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है. (१८.०९)

ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति आसक्ति का परित्याग सच्चा त्याग है. त्याग की सम्पूर्णा व्यक्ति के रुचि और अरुचि के चंगुल से मुक्त होने पर ही आती है और किसी तरीके से नहीं. विषयों की आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है. राग-द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि होती है (म.भा. १२.१६२.१७). संसार में आत्मज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, मोह के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है (म.भा. १२.१७५.३५). मनुष्य त्याग के बिना सुख नहीं पाता, त्याग किए बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग के बिना निर्भय तथा सुखी नहीं हो सकता (म.भा. १२.१७६.२२). समाधि-सुख का आनन्द भी केवल आनन्द के लिए ही नहीं भोगना चाहिए. गीता जगत् में रहते हुए त्याग का परामर्श देती है, जगत् के त्याग का नहीं, जैसा कि भ्रान्तिवश प्रायः समझा जाता है.

ईसा ने कहा है: यदि तुम पूर्णता चाहते हो, तो जो कुछ तुम्हारे पास है, सब (का मोह) छोड़ कर मेरा अनुसरण करो (मैत्थ्यु १६.२१). कोई भी दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता. तुम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते (मैत्थ्यु ६.२४, ल्यूक १६.१३). आर्ष शिक्षाओं के लिए ईसा अपने जीवन का त्याग करने से नहीं झिझके. धर्म-प्रस्थापना के लिए भगवान् राम ने अपना राज्य और पत्नी तक का परित्याग कर दिया. वेदों और उपनिषदों का संदेश है— मोह त्यागो और त्याग द्वारा पूर्णता प्राप्त करो. त्याग, जैसा कि इस अन्तिम अध्याय में कहा गया है, गीता का सार है. जो व्यक्ति त्यागी है, वह पाप नहीं कर सकता और आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है. त्याग की नाव से व्यक्ति इस जन्म में ही आवागमन का सागर पारकर मुक्ति के तट पर पहुंच सकता है.

गीता की शिक्षा पर आधारित मुक्ति की ओर ले जानेवाले त्याग नौ प्रकार के हैं— (१) शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग (गीता १६.२३-२४); (२) काम, क्रोध, लोभ, भय, रुचि-अरुचि और ईर्ष्या का त्याग (गीता ३.३४, १६.२१); (३) परम सत् की खोज में टालने की प्रवृत्ति (प्रमाद) की तिलांजलि (गीता १२.०६); (४) ज्ञान, अनासक्ति, भक्ति, सम्पत्ति और दान कार्यों में स्वामित्व के गर्व का त्याग (गीता १५.०५, १६.०१-०४); (५) स्वार्थपूर्ण उद्देश्य तथा सर्व कर्मफल का वहिष्कार (गीता २.५१, ३.०६, ४.२०, ६.१०); (६) सब उद्यमों में कर्तापन के भाव का त्याग (गीता १२.१३, १८.५६); (७) स्वार्थपूर्ण भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रभु के उपयोग के विचार का त्याग (गीता २.४३, ७.१६); (८) घर, सम्पत्ति, पद और शक्ति आदि भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति को तिलांजलि (गीता १२.१६, १३.०६); और (९) उदात्त ध्येय और धर्म की रक्षा के लिए सम्पत्ति, यश और यहां तक कि जीवन का भी उत्सर्ग (गीता २.३२, ४.२८)

न द्वेष्ट्य् अकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो मनुष्य अशुभ कर्म से द्वेष नहीं करता तथा शुभ कर्म में आसक्त नहीं होता, वही सतो गुण से सम्पन्न, संशयरहित, बुद्धिमान् और त्यागी समझा जाता है. (१८.१०)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य् अशेषतः ।

यस तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्य् अभिधीयते ॥११॥

मनुष्य के लिए सम्पूर्णरूप से सभी कर्मों का त्याग करना संभव नहीं है, अतः जो सभी कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करता है, वही त्यागी कहा जाता है. (१८.११)

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्य् अत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मों के तीन प्रकार के फल— अच्छा वुरा और मिश्रित— मरने के बाद कर्मफल में आसक्ति का त्याग न करनेवाले को मिलते हैं, परन्तु त्यागी को कभी नहीं. (१८.१२)

कर्म के पांच कारण

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

हे महाबाहो, सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सभी कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच कारण— स्थूल शरीर, प्रकृति के गुणरूपी कर्ता, पांच प्राण, इन्द्रियां तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण— बताए गए हैं. इसे तुम मुझसे भली भांति जानो. (१८.१३-१४)

शरीरवाङ्मनोभिर् यत् कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कुछ भी उचित या अनुचित कर्म करता है, उसके ये पांच कारण हैं. (१८.१५)

तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्य् अकृतबुद्धित्वान् न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अतः जो केवल अपने-आपको (अर्थात् अपने शरीर या आत्माको) ही कर्ता मान बैठता है, वह अज्ञानी मनुष्य अशुद्ध बुद्धि के कारण नहीं समझता. (१८.१६)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमील् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिस मनुष्य के अन्तःकरण में "मैं कर्ता हूँ" का भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल की आसक्ति से) लिप्त नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी वास्तव में न किसी को मारता है और न पाप से बंधता है. (१८.१७)

जो लोग इस विचार से कि "मैं कर्ता हूँ" मुक्त हैं, जो अपने कर्म की रुचि-अरुचि से मुक्त हैं और जो अपने कर्म के फलों के प्रति अनासक्त हैं, वे हत्या तक के कर्म को करते हुए भी कर्मभोग के प्रतिफल से मुक्त हो जाते हैं.

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कार्य का ज्ञान, ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और ज्ञाता— ये तीन कर्म की प्रेरणा हैं; तथा करण अर्थात् इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण— ये तीन कर्म के अंग हैं. (१८.१८)

ज्ञान के तीन प्रकार

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच् चूणु तान्य् अपि ॥१९॥

सांख्यमत के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से तीन प्रकार के माने गए हैं. उनको भी तुम मुझसे भली भांति सुनो. (१८.१९)

सर्वभूतेषु येनेकं भावम् अव्ययम् ईक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्त रूप में स्थित समस्त प्राणियों में एक ही अविभक्त और अविनाशी परमात्मा को समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्त्विक जानो. (११.१३, १३.१६ भी देखें.) (१८.२०)

पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभिन्न प्राणियों के अस्तित्व में अनेकता का अनुभव करता है, उस ज्ञान को तुम राजसिक समझो. (१८.२१)

यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम् ।

अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम् ॥२२॥

और जिस मूर्खतापूर्ण, तुच्छ और बेकार ज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर को ही सबकुछ मानकर उसमें आसक्त हो जाता है, वह ज्ञान तामसिक है. (१८.२२)

कर्म के तीन प्रकार

नियतं सङ्गरहितम् अरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते ॥२३॥

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और कर्मफल की इच्छा और आसक्ति से रहित है तथा बिना राग-द्वेष से किया गया है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२३)

यत् तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद् राजसम् उदाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म फल की कामनावाले, अहंकारी मनुष्य द्वारा बहुत परिश्रम से किया जाता है, वह राजसिक कहा गया है. (१८.२४)

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् अनवेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहाद् आरभ्यते कर्म यत् तत् तामसम् उच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम, अपनी हानि, परपीड़ा और अपनी सामर्थ्य को न विचारकर केवल भ्रमवश किया जाता है, वह कर्म तामसिक कहलाता है. (१८.२५)

कर्ता के तीन प्रकार

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्ध्यऽसिद्ध्योर् निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता आसक्ति और अहंकार से रहित तथा धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है. (१८.२६)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर् लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

राग-द्वेष से युक्त, कर्मफल का इच्छुक, लोभी तथा दूसरों को कष्ट देनेवाला, अपवित्र विचारवाला और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजसिक कहा जाता है. (१८.२७)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्त, असभ्य, हठी, धूर्त, द्वेषी, आलसी, उदास और दीर्घसूत्री कर्ता तामसिक कहा जाता है. (१८.२८)

बुद्धि के तीन प्रकार

बुद्धेर भेदं धृतेश् चैव गुणतस् त्रिविधं शृणु ।

प्राच्यमानम् अशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे अर्जुन, अब तुम मुझसे गुणों के अनुसार बुद्धि के और संकल्प के भी तीन भेद पूर्ण रूप से अलग-अलग सुनो. (१८.२९)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा मुक्ति और बन्धन को यथार्थ रूप से जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है. (१८.३०)

यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं चाकार्यम् एव च ।

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक तरह से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसिक है. (१८.३१)

अधर्मं धर्मम् इति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे अर्जुन, जो बुद्धि अज्ञान के कारण अधर्म को ही धर्म मान लेती है, इसी तरह सभी चीजों को उल्टा समझ लेती है, वह बुद्धि तामसिक है. (१८.३२)

संकल्प के तीन प्रकार, मानव जीवन के चार लक्ष्य

धृत्या यया धारयते मनःप्राणन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

जिस संकल्प के द्वारा केवल परमात्मा को ही जानने के ध्येय से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह संकल्प सात्त्विक है. (१८.३३)

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पृथानन्दन, फल की इच्छावाला मनुष्य जिस संकल्प के द्वारा धर्म, अर्थ और काम को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह संकल्प राजसिक है. (१८.३४)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष वैदिक पद्धति में गृहस्थ के लिए मानव-जीवन के उदात्त ध्येय हैं. भगवान् राम ने कहा है: वे जो धर्म और अर्थ को छोड़कर केवल इन्द्रियों को संतुष्ट करने में लगे हैं, शीघ्र ही विपत्ति में पड़ जाते हैं. (वा.रा. २.५३.१३). जो मनुष्य काम से धर्म और अर्थ को, अर्थ से धर्म और काम को तथा धर्म से अर्थ और काम को हानि न पहुंचाकर धर्म, अर्थ और काम तीनों का यथोचित रूप से सेवन करता है, वह अत्यन्त सुख का भागी होता है (म.भा. ६.६०.२२). सम्पूर्ण रूप से भौतिक सम्पत्ति और पदार्थों को पाने और रखने में लगे व्यक्ति के पास आत्मबोध के लिए कोई समय नहीं रहता. परिग्रह, अर्थात् स्वामित्व का भाव, जन्म और मृत्यु का मुख्य कारण है. परिग्रह से ही पाप प्राप्त हो सकता है (म.भा. १२.०७.४१). प्रभु की भक्ति और समर्पण से चारों ध्येयों की प्राप्ति सम्भव है (वि.पु. १.१८.२४). पहले व्यक्ति को निष्ठापूर्वक अपना कर्त्तव्य करते हुए धर्म का पालन करना चाहिए. तब उसे धनोपार्जन करके आर्थिक प्रगति और उपार्जित धन द्वारा सभी उदात्त भौतिक और आध्यात्मिक कामनाओं की पूर्ति करते हुए मुक्ति की ओर प्रगति करनी चाहिए, जो मानवजन्म का एक मात्र वांछनीय ध्येय है.

जैसे मानव सदैव मृत्यु से भयभीत रहते हैं, वैसे ही धनी व्यक्ति सदा आयकर-अधिकारी, चोरों, सम्बन्धियों और प्राकृतिक विपत्तियों से भयभीत रहता है (म.भा. ३.०२.३६). धन को इकट्ठा करने, उसकी रक्षा और त्याग करने में बड़ी वेदना होती है. धन की प्यास कभी नहीं बुझती; अतः संतोष ही परम सुख है. इसीलिए ज्ञानीजन संतोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं (म.भा. ३.२.४६). धन और भौतिक वस्तुओं से लोग कभी संतुष्ट नहीं होते (कठ.उ. १.२७). सदा यह याद रखना चाहिए कि हम सब धन-सम्पत्ति के न्यासरक्षक (ट्रस्टी) मात्र हैं.

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदम् एव च ।

न विमुञ्चति दुर्मैधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ, बुद्धिहीन मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और लापरवाही को नहीं छोड़ता, वह संकल्प तामसिक कहा जाता है. (१८.३५)

आनन्द के तीन प्रकार

सुखं त्व् इदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, अब तुम तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो. मनुष्य को आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सुख से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है. (१८.३६)

यत् तद् अग्रे विषम् इव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

ऐसे आत्मबुद्धिरूपी प्रसाद से उत्पन्न सुख को जो आरम्भ में विष की तरह, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है सात्त्विक सुख कहते हैं. (१८.३७)

भक्ति के अमृत के सागर का सुख भोगनेवाले के लिए इन्द्रियों के सुखभोग व्यर्थ हैं, जो एक तालाब के जल के समान हैं (भा.पु. ६.१२.२२). यदि आध्यात्मिक जल का कोई विरस्थायी स्रोत नहीं है, तो भौतिक सुखों की सरिता वर्षाऋतु के बाद बहुत जल्दी सूख जाती है. आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति के लिए भौतिक पदार्थ तिनके के समान होता है.

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषम् इव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

इन्द्रियों के भोग से उत्पन्न सुख को जो भोग के समय तो अमृत के समान लगता है, परन्तु जिसका परिणाम विष की तरह होता है राजसिक सुख कहा गया है. (५.२२ भी देखें.) (१८.३८)

हमारे लिए दो मार्ग खुले हैं— हितकारी आध्यात्मिक मार्ग और ऐन्द्रिय सुखों का आनन्द मार्ग. बुद्धिमान् इनमें से पहला चुनते हैं, जबकि अज्ञानी दूसरा (कठ.उ. २.०२). ऐन्द्रिय सुख-भोग इन्द्रियों की ऊर्जा का हनन करता है और अन्त में व्यक्ति रोगों का शिकार हो जाता है (कठ.उ. १.२६). अमूल्य मानव-जीवन का उद्देश्य ऐन्द्रिय सुख नहीं है. स्वर्ग-सुख भी अस्थायी है और उसका अन्त भी दुःख में होता है. जिनकी आसक्ति ऐन्द्रिय सुखभोग में है, वे उन सुखों के समान हैं, जो भक्ति के अमृत के बदले में विष को चुनते हैं (तु.रा. ७.४३.०१). मायावश अज्ञानी लोग विषपान करते समय यह नहीं सोचते कि वे विष पी रहे हैं. केवल परिणाम के बाद ही व्यक्ति को यह ज्ञान होता है, पर तब बहुत देर हो चुकी होती है (वा.रा. ७.१५.१६). इन्द्रियों की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही आसानी से बाह्य इन्द्रिय-सुख की ओर जाने की होती है, जैसे कि पानी सदा नीचे की ओर जाता है. सभी ऐन्द्रिय और भौतिक कामनाओं की पूर्ति के बाद खेद ही होता है. सांसारिक सुख मरुभूमि में हुई मृगमरीचिका की भांति हैं. प्यासे व्यक्ति इसे जल समझते हैं, तब तक जब कि पीने के लिए इसके पास आते हैं और (फिर) पाते हैं कि यह कुछ भी नहीं था. सांसारिक सुख अस्थायी और टिमटिमाता हुआ है, जबकि आध्यात्मिक जीवन से मिला सुख स्थायी और सतत है. श्री रामकृष्ण ने कहा है: कोई भी प्रभु के लिए तब तक तड़प-भरी गहन अनुभूति नहीं करता, जब तक कि समस्त सांसारिक सुखों की संतुष्टि न हो चुकी हो. मनु का मत है कि इन्द्रियों के अपने सुखभोग और उनकी व्यर्थता तथा हानिकारिता की खोज के बाद उनपर नियंत्रण कर पाना सुगम हो सकता है (म.स्मृ. २.६६). हमारी अधिकतर इच्छाओं के तुष्टीकरण के बाद ही कामशून्यता आती है. व्यक्ति स्वस्थ और धनी होते हुए भी आध्यात्मिक सुख के बिना दुःखी हो सकता है. आध्यात्मिक रूप से प्रौढ़ व्यक्ति को सांसारिक सुखों का अभाव महसूस नहीं होता.

यद् अग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनम् आत्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम् ॥३९॥

निद्रा, आलस्य और लापरवाही से उत्पन्न सुख को, जो भोगकाल में तथा परिणाम में भी मनुष्य को भ्रमित करनेवाला होता है, तामसिक सुख कहा गया है. (१८.३९)

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर् मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त होकर नहीं रह सकता है. (१८.४०)

पुरातन वैदिक व्यवस्था में प्रकृति के त्रिगुणों के आधार पर मानवीय क्रियाओं को चार सामाजिक वर्गों (वर्णों) में बांटा गया था. इन चार वर्णों (श्रेणियों) को गलती से प्रायः भारत तथा अन्य स्थानों पर वर्तमानकालिक जातिप्रथा, जो जन्म पर आधारित है, समझ लिया जाता है. भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा बताये मानव-समाज के इन चार सार्वभौमिक सामाजिक वर्ग-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध व्यक्ति की प्रकृति और उसके गुण तथा कर्म से है, उसके जन्म से नहीं. वे जो सात्त्विक गुण से नियंत्रित हैं तथा शान्तिप्रिय एवं संयमी हैं, ब्राह्मण कहे जाते हैं. वे जो राजसिक गुणों के वशीभूत हैं और शासन तथा सुरक्षा-सेवाओं को प्राथमिकता देते हैं, क्षत्रियों के नाम से जाने गए. जो राजसिक और अज्ञानी

(तामसिक) भावों के मिश्रण के नियंत्रण में हैं तथा खेती और व्यापार में जिनकी रुचि हो, वे वैश्य कहलाए. जो अधिकांशतः अज्ञान के निम्नतम (तामसिक) गुणों से पूर्ण थे, शूद्र कहे गए. उनकी प्रकृति तीन अन्य वर्गों की सेवा करने की थी.

योग्यता के अनुसार श्रम का विभाजन

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर् गुणैः ॥४१॥

हे अर्जुन, चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— में कर्म का विभाजन भी मनुष्यों के गुणों से उत्पन्न स्वभाव के अनुसार ही किया गया है. (४.१३ भी देखें.) (१८.४१)

वेदों ने मानवीय समाज की तुलना एक पुरुष से की है, जिसके चार अंग समाज के चार प्रकार के कर्म और कर्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं. वेदों का यह भी कथन है कि उनके शब्द समस्त मानवजाति के पढ़ने के लिए हैं (यजु.वे. २६.०२). गीता के अनुसार मानवों की केवल दो ही श्रेणियां (जाति) हैं— दैवी और आसुरी (गीता १६.०६).

शमो दमस् तपः शौचं क्षान्तिर् आर्जवम् एव च ।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सत्यवादिता, ज्ञान, विवेक और आस्तिक भाव— ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४२)

जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया आदि सदगुण हों, वही ब्राह्मण कहा गया है (म.भा. ३.१८०.२१). कोई भी ब्राह्मण कहला सकता है, यदि उसमें आत्मज्ञान का दैवी गुण हो (ऋ.वे. १०.१२५.०५, अथ.वे. ४.३०.०३). ब्राह्मणत्व एक उपलब्ध किया हुआ गुण, मानसिक अवस्था है; जाति या पन्थ नहीं. परमज्ञान के प्रबुद्ध ज्ञाता और ब्रह्म के निकटवर्ती प्राणी ही सच्चे ब्राह्मण हैं. सब लोग समान पैदा होते हैं और अपने कर्मों से ही उंचे या नीचे वर्ण के बन सकते हैं.

जब भी किसी समाज का एक भाग जाति-प्रजाति, धर्म, मत-मतान्तर, रंग, योनि या जन्मस्थान को व्यक्ति की योग्यता के ऊपर प्रमुखता देता है, तब उस समाज के पतन और कौशलहीनता के बीज बोता है और वे बीज उगने लगते हैं. भेदभाव का दानव कोई राष्ट्रीय सीमाएं नहीं जानता. भेदभाव दुर्भाग्य से विश्व-भर में किसी न किसी रूप में व्यवहार में लाया जाता है. यह मानवीय कमजोरी है और अपने को श्रेष्ठ समझने की हीन मनोग्रन्थि का परिणाम है. बुद्धिमान् व्यक्ति को हर प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए. सभी प्रभु की सन्तान हैं और उसकी आंखों में बराबर हैं तथा उनके साथ बराबरी का व्यवहार होना चाहिए. समाज की प्रगति के लिए व्यक्ति का उसकी योग्यता के अनुसार मूल्यांकन किया जाना चाहिए न कि किसी और मापदण्ड के अनुसार.

शौर्यं तेजो धृतिर् दाक्ष्यं युद्धे चाप्य् अपलायनम् ।

दानम् ईश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, दृढ़ संकल्प, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और शासन करना— ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं. (१८.४३)

एक क्षत्रिय का आदर्श समाज में बुरे काम करनेवालों का समझौताहीन और अनवरत विरोध की अपेक्षा करता है. क्षत्रिय का धर्म समाज में अधर्म और अन्याय के विरोध में युद्ध करने का है.

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गौपालन तथा व्यापार— ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्रका स्वाभाविक कर्म सेवा करना है. (१८.४४)

शूद्र वह है जो आध्यात्मिक ज्ञान से अनभिज्ञ है और अज्ञानवश अपने को भौतिक शरीर ही समझ बैठता है. भगवान् कृष्ण के अनुसार ये चार वर्ग या श्रेणियां जन्म के अनुसार नहीं हैं. शूद्र श्रेणी का व्यक्ति किसी भी परिवार में जन्म ले सकता है. व्यक्ति के पूर्व कर्मों के फल ही उसकी प्रकृति और स्वभाव के रूप में लौटते हैं.

लोग या तो गुण-विशेष के साथ जन्म लेते हैं या प्रशिक्षण और प्रयास से गुणों को विकसित करते हैं. जिस किसी में समाज के चातुर्वर्ण्य व्यवस्था योग्य अनिवार्य गुण नहीं हैं, वह जन्म या स्थिति के अनुसार समुचित रूप से वर्गीकृत नहीं किया जा सकता.

कर्तव्य, साधना, और भक्ति से मोक्ष

स्वे स्वे कर्मण्य् अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच् च्छृणु ॥४५॥

मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म करते हुए परम सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकता है, उसे तुम मुझसे सुनो. (१८.४५)

यतः प्रवृत्तिर् भूतानां येन सर्वम् इदं ततम् ।

स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस परब्रह्म परमात्मा से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है. (९.२७, १२.१० भी देखें.) (१८.४६)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है, क्योंकि (निष्काम भाव से) अपना स्वाभाविक कार्य करने से मनुष्य को पाप नहीं लगता. (३.३५ भी देखें.) (१८.४७)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषम् अपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निर् इवावृताः ॥४८॥

हे अर्जुन, अपने दोषयुक्त सहज स्वाभाविक कर्म का भी त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे धुएँ से अग्नि आवृत होती है, वैसे ही सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं. (१८.४८)

संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें केवल सदगुण या अवगुण ही हों. सभी उद्यमों में भी अच्छाई और बुराई दोनों ही देखने में आती हैं (म.भा. १२.१५-५०). यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि तुम क्या करते हो, बल्कि यह कि तुम उस कर्म को किस प्रकार करते हो.

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

आसक्ति-रहित, इच्छा-रहित और जितेन्द्रिय मनुष्य संन्यास (अर्थात् सकाम कर्मों के परित्याग) के द्वारा (कर्म के बन्धन से मुक्त होकर) परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करता है. (१८.४९)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय, नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त हुआ साधक किस प्रकार तत्त्वज्ञान की परानिष्ठा, परमपुरुष, को प्राप्त होता है, उसे भी मुझसे संक्षेप में सुनो. (१८.५०)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयांस् त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, मन के दृढ़ संकल्प द्वारा आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष से रहित होकर, एकान्त में रहकर, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करके, अपने वाणी, कर्मेन्द्रियों और मन को संयत कर, परमात्मा के ध्यान में सदैव लगा हुआ, दृढ़ वैराग्य को प्राप्त, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और स्वामित्व को त्यागकर, ममत्वभाव से रहित और शान्त मनुष्य परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बन जाता है. (१८.५१-५३)

जब ध्यान की मशाल कर्म, ज्ञान और भक्ति को तुरीय समाधि की अवस्था में एक कर देती है, तब बोधि की किरणें प्रभासित हो उठती हैं, दिव्य एकीकरण (मिलन) पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, अज्ञान का कोहरा हट जाता है और ऐन्द्रिय इच्छाएं मन से तिरोहित हो जाती हैं.

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्रक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

उपरोक्त ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त, प्रसन्न चित्तवाला साधक न तो किसी के लिए शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा ही करता है. ऐसा समस्त प्राणियों में समभाववाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है. (१८.५४)

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।

ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

श्रद्धा और भक्ति (अर्थात् पराभक्ति) के द्वारा ही मैं तत्त्व से जाना जा सकता हूँ कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ: मुझे तत्त्व से जानने के पश्चात् तत्काल ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर (मत्स्वरूप बन) जाता है. (५.१९ भी देखें.) (१८.५५)

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रभु केवल पूर्ण निष्ठा और अविचल भक्ति द्वारा ही जाने जा सकते हैं (भा.पु. ११.१४.२१). उस निष्ठा और अविचल भक्ति को पाने के अनेक मार्ग हैं, केवल एक ही नहीं. ज्ञान और भक्ति वृक्ष और बीज की तरह वही और एक ही हैं. आध्यात्मिकता की समस्त प्रक्रिया केवल प्रभुकृपा की ज्योति से ही शुरू होती है, किसी अन्य तरीके से नहीं.

मायाभ्रम लोगों को प्रभु को जानने और प्रभुदर्शन से रोकता है. जैसे व्यक्ति समुद्र के जल में सतत विद्यमान नमक को आंखों से नहीं देख सकता, पर जीभ से स्वाद चख

सकता है, वैसे ही ब्रह्म (आत्मा) को भी केवल विश्वास और भक्ति से ही जाना जा सकता है, तर्क और विवेचन मात्र से नहीं। प्रभुप्राप्ति न केवल ध्यान और आत्मज्ञान से सम्भव है, बल्कि भगवान् कृष्ण के प्रति भावप्रवण दिव्य व्यक्तिगत प्रेम और अगाध भक्ति से भी।

वही तुम्हें जानते हैं, जिनको तुमने जनवाया है और जिस क्षण भी कोई तुम्हें जान लेता है, वह तुममें विलीन होकर एक हो जाता है (तु.रा. २.१२६.०२)। ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म-जैसा ही हो जाता है (बृह.उ. १.०४.१०, मु.उ. ३.०२.०६)। प्रभु का राज्य तुम्हारे भीतर भी है (ल्यूक १७.२१)। कोई भी प्रभु के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता, जब तक कि वह पुनर्जन्म नहीं लेता (यह अहसास कर कि व्यक्ति शरीर नहीं है, बल्कि शरीर के पीछे की आत्मा है) (जॉन ३.०३)। जो भी प्रभु के राज्य को बालक की तरह नहीं स्वीकार करता है, वहां कभी नहीं जा सकेगा (मार्क १०.१५)। पिता और मैं एक ही हूँ (जॉन १०.३०)।

सर्वकर्माण्य् अपि सदा कुर्वाणो मद्ब्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदम् अव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय लेनेवाला (कर्मयोगी भक्त) सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त करता है। (१८.५६)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

समस्त कर्मों को श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मुझे अर्पण कर, मुझे अपना परम लक्ष्य मानकर मुझपर ही भरोसा रख तथा निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगा। (१८.५७)

जो भी वस्तु हम उपयोग में लाते हैं या भोजन करते हैं, उसे अपने उपयोग में लाने से पहले प्रभु को अर्पित करना चाहिए, जो सब वस्तुओं का दाता है। इसमें सम्मिलित, पर उन्हीं तक सीमित नहीं, वस्तुएं हैं— भोजन, नए वस्त्र, नई कार, नया घर तथा नवजात शिशु। प्रभु को सब वस्तुओं को अर्पित करना श्रेष्ठतम पूजा है, जिसे व्यक्ति को सीखना और नित्य आचरण में लाना चाहिए। स्वामी चिदानन्द सरस्वती (मुनिजी) के अनुसार इस श्लोक का अर्थ यह है कि प्रभु के नाम को अन्तःकरण में और ओठों पर धारण करो और उसके काम को अपने हाथों में।

कर्मयोग व्यक्ति को आवागमन के चक्र में फंसने से बचाता है और मुक्ति की ओर ले जाता है। कर्मयोग की अनुशंसा उसके लिए भी की गई है, जिसका प्रभु में विश्वास नहीं है, जिसको प्रभु के बारे में कोई ज्ञान नहीं है, जिसमें कोई आस्था और भक्तिभाव नहीं है और जो किसी और आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।

अथ चेत् त्वम् अहंकारान् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाकर तुम मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को पार कर जाओगे और यदि तुम अहंकारवश मेरे इस उपदेश को नहीं सुनोगे, तो तुम्हारा पतन होगा। (१८.५८)

कर्मबन्धन और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति

यद् अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस् ते प्रकृतिस् त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहंकारवश तुम ऐसा सोच रहे हो कि मैं यह युद्ध नहीं करूंगा, तो तुम्हारा ऐसा सोचना मिथ्या है, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव तुम्हें बलात् युद्ध में लगा देगा। (१८.५९)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात् करिष्यस्य अवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे अर्जुन, तुम अपने स्वाभाविक कर्म (के संस्काररूपी बन्धनों) से बंधे हो, अतः भ्रमवश जिस काम को तुम नहीं करना चाहते, उसे भी तुम विवश होकर करोगे. (१८.६०)

मन प्रायः सही और गलत जानता है, किन्तु संस्कारों की शक्ति से अनिच्छापूर्वक वह पापों की ओर भागता है. दूसरों में दोष निकालने से पहले व्यक्ति को यह ध्यान में रखना चाहिए.

प्रकृति के तीन गुणों से आक्रान्त अज्ञानियों की स्वतंत्र इच्छा की पूर्ति के लिए कृपालु प्रभु व्यक्ति को आवांछनीय कर्मों में लिप्त होने के अनुकूल वातावरण पैदा कर देता है. हमारी स्वतंत्र इच्छा पट्टे में बंधे कुत्ते की स्वतंत्रता के समान है. सुगमकर्ता की हैसियत से प्रभु सबके साथ उनकी इच्छाओं के अनुसार प्रतिदान करता है और उनकी स्वतंत्र इच्छा से प्रसूत कामनाओं को पूरा करने देता है. वह प्राणियों को उनकी इच्छा और पूर्व संचित अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार उन्हें अच्छे-बुरे कर्मों में लगाने के लिए अपनी माया का प्रयोग करता है.

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्भारूदानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, ईश्वर (अर्थात् श्रीकृष्ण ही) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया के द्वारा प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली की तरह घुमाते रहता है.

(१८.६१)

ईश्वर शरीर में आत्मा का प्रतिबिम्ब है. परमात्मा विश्व में सब चीजों को व्यवस्थित, नियंत्रित और संचालित करता है.

प्रभु ने कर्म-विधान सब प्राणियों के नियन्ता के रूप में बनाए हैं. इसलिए व्यक्ति को वह सब, जो भाग्य उसपर डालता है, प्रभु की शरण लेकर और उनके आदेशों का पालन करते हुए सहर्ष सहन करना सीखना चाहिए (तु.रा. २.२१८.०२). वेदों की घोषणा है कि कर्मों के माध्यम से प्रभु हमें वैसे ही नचाता है, जैसे मदारी बन्दर को (तु.रा. ४.६.१२). कर्म-विधान के विना शास्त्र-निर्देशों, निषेधों और आत्मप्रयासों का कोई मूल्य नहीं होगा. कर्म शाश्वत न्याय और शाश्वत अधिनियम है. शाश्वत न्याय की कार्यपद्धति के परिणामस्वरूप हमारे कर्मों के परिणामों से कोई बचाव नहीं हो सकता. हम अपने अतीत के चिन्तन और कर्म की उपज हो जाते हैं. इसलिए शास्त्रों का मार्गदर्शक के रूप में उपयोग करते हुए हमें वर्तमान क्षण में बुद्धिपूर्वक चिन्तन और कर्म करना चाहिए.

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त कुरआन की निम्न दो आयतों में भी मिलता है— अल्लाह वह है, जिसने तुम्हें पैदा किया और फिर तुम्हारा पोषण किया, तुम्हें मारा और जो तुम्हें फिर जीवन देता है (सूरा ३०.४०). वह उन्हें, जो अच्छे कर्म करते हैं और जिनमें आस्था है, पुरस्कृत करता है. उसके कर्मफल के विधान से कोई भी बचने में समर्थ नहीं (सूरा ३०.४५). लोग अपने कर्म के परिणामों से नहीं बच सकते, क्योंकि जैसा तुम बोओगे, वैसा काटोगे. कारणों और परिणामों को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य अर्थात् परिणाम कारण में विद्यमान है, जैसे फल बीज में विद्यमान रहता है. अच्छे और बुरे कर्म हमारी छायाओं की भांति निरन्तर हमारा पीछा करते हैं.

बाइबिल का कहना है— जो भी आदमी का खून बहाता है, आदमी द्वारा उसका खून बहाया जाएगा (जेनेसिस ६.०६). यह विश्वास किया जाता है कि बाइबिल से कर्म और

पुनर्जन्म के सारे सन्दर्भों को दूसरी शताब्दी में इस महान् उद्देश्य से निकाल दिया गया था कि व्यक्ति इसी जन्म में पूर्णता के लिए महा परिश्रम करे। जो लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, उन्हें आलस्य और प्रमाद से हटकर आध्यात्मिक साधना पर जोर देना चाहिए और इसी जन्म में आत्मज्ञान प्राप्त करने का पूरा प्रयास करना चाहिए जैसे कि पुनर्जन्म ही नहीं। यह सोचकर जिओ कि यह दिन पृथ्वी पर तुम्हारा अन्तिम दिन है। आलस्य और प्रमाद से कोई कुछ भी नहीं पा सकता।

कोई भी इस जगत् से मृत्यु के बाद उस लोक में सम्पत्ति, यश, शक्ति आदि अपने साथ नहीं ले जा सकता किन्तु व्यक्ति उनको अच्छे-बुरे कर्मों में बदलकर ले जा सकता है। मृत्यु भी व्यक्ति के कर्म को नहीं छू सकती। जिन्होंने पूर्वजन्म में अत्यन्त पवित्रता के साथ कर्म किया है, वे बिना किसी विशेष प्रयत्न के इस जन्म में यश पा लेते हैं।

तम् एव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत, तुम पराभक्ति भाव से उस ईश्वर की ही शरण में जाओ। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत परमधाम को प्राप्त करोगे। (१८.६२)

इति ते ज्ञानम् आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतद् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मैंने गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान तुमसे कहा है। अब इसपर अच्छी तरह से विचार करने के बाद तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। (१८.६३)

समर्पण, प्रभुप्राप्ति का परम मार्ग

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढम् इति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

मेरे इस समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम उपदेश को तुम एक बार फिर सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारे हित की बात कहूंगा। (१८.६४)

मन्मना भव मद्रक्तो मधाजी मां नमस्कुरु ।

माम् एवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

तुम मुझमें अपना मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम मुझे अवश्य ही प्राप्त करोगे। मैं तुम्हें यह सत्य वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो। (१८.६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ। शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बन्धनों) से मुक्त कर दूंगा। (१८.६६)

सब धर्मों, अर्थात् कर्तव्य-कर्मों, का परित्याग कर प्रभु की शरण में जाने का अर्थ है कि जिज्ञासु को अपने धर्म का पालन प्रभु को समर्पण के रूप में व्यक्तिगत आसक्ति के बिना करना चाहिए और सहायता तथा मार्गदर्शन के लिए पूर्णतः प्रभु पर निर्भर रहना चाहिए। जो पूर्णतः प्रभु पर निर्भर रहता है, उस व्यक्ति का सम्पूर्ण दायित्व प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। यदि तम्हें कोई अच्छा समाधान मिल जाता है और तुम उसके प्रति आसक्त हो जाते हो, तो वह समाधान ही तुम्हारी समस्या बन जाएगा। शास्त्रों की उक्ति है— बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने सारे जीवन पुण्य कार्यों में भी आसक्त न होकर अपने मन और

बुद्धि को परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए (म.भा. १२.२६०.२१)। व्यक्ति को साधना के फलों सहित सब वस्तुओं को प्रभु को अर्पित करते हुए वास्तविक आत्मसमर्पण की भावना का विकास करना चाहिए। अपने सब कर्मों को हमें दिव्य शक्ति से सन्नद्ध करना चाहिए। विश्व अधिनियमों अर्थात् प्रभु-इच्छा से नियंत्रित है। सम्पत्ति में प्रभु के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए और विपत्ति में प्रभु-इच्छा को स्वीकार कर लेना चाहिए।

पावन और अपावन फलों से, जो व्यक्ति को इस भौतिक दुनिया से बांधते हैं, मुक्त होने के लिए अपना हर कर्म प्रभु को अर्पित करना आवश्यक है। जब कोई भक्त सच्चे मन से प्रभु के लिए कर्म करता है, तब ऐसे भक्त को वे अपनी बाह्य ऊर्जा (माया) के संसर्ग से बचाते हैं। यदि कोई स्वेच्छा से सब स्थितियों में परमप्रभु पर निर्भर करता है, तो उसके कर्मों के फल—पुण्य और पाप—अपने आप ही प्रभु को चले जाते हैं और व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है।

एक सच्चे भक्त का दृष्टिकोण होगा— हे प्रभु, मैंने तुम्हारा स्मरण किया, क्योंकि तुमने मुझे याद किया। जैसे ही किसी व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है और उसे पक्का विश्वास हो जाता है कि सभी कुछ प्रभु की इच्छा से होता है, यह प्रभु का संसार है, उसी की लीला है, हमारा नहीं, उसी का संग्राम है। जैसे ही व्यक्ति अपनेको प्रभु की लीला में अभिनेता मात्र समझता है तथा प्रभु को सृष्टि के रंगमंच पर आत्मा के ब्रह्माण्ड-नाटक का सूत्रधार समझता है, वैसे ही वह तुरन्त ही बन्धन का हर जुआ तोड़ देता है और इसी जन्म में जीवनमुक्त हो जाता है। व्यक्तिगत इच्छा को दैवी इच्छा को समर्पण कर देना सब साधनाओं की चरम परिणति है, जिसका परिणाम होता है जीवन के हर्ष और शोक के नाटक में सहर्ष भागी होना। इसीका नाम जीवनमुक्ति है या बौद्ध धर्म में महायान। जब तक व्यक्ति कर्ता होने के भाव या स्वामित्वभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसे प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। प्रभु की कृपा तभी उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह कर्ता नहीं है और तब वह तत्क्षण इसी जन्म में मुक्त हो जाता है। समर्पित व्यक्ति को उद्भासित होने के लिए प्रभु आत्मबोध के विज्ञान का ज्ञान देता है।

प्रभु को समर्पण करने का अर्थ संसार का त्याग नहीं है, वरन् इस बात को जान लेना है कि हर चीज प्रभु के विधान के अनुसार और उसके निर्देशन और शक्ति से होती है। इस बात का पूर्ण अभास हो जाना ही कि सब कुछ दैवी योजना के अधीन और नियंत्रित है, प्रभु को समर्पण करना है। समर्पण में व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम प्रयत्नों का त्याग किए बिना दैवी योजना द्वारा अपने जीवन का संचालन होने देता है। समर्पण व्यक्तिगत अस्मिता अथवा अहम् का पूर्ण त्याग है। समर्पण इस प्रकार का भाव है— हे मेरे प्रिय प्रभु, कुछ भी मेरा नहीं है, सब कुछ — मेरा तन, मन, धन और आत्मा भी — तेरा ही है। मैं ईश्वर नहीं, ईश्वर का सेवक हूँ; आवागमन के सागर से मेरी रक्षा करो। मैंने शास्त्रों में दिए सब तरीकों से भौतिक संसार से निकलने का प्रयत्न किया, पर मैं असफल रहा। अब मैंने अन्तिम प्रक्रिया — विनय और समर्पण से दैवी कृपा को खोजना — को खोज लिया है। प्रभु की खोज उसको ढूँढने में उसीकी सहायता की प्रार्थना से की जा सकती है, मात्र साधना से नहीं। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी आध्यात्मिक साधना की यात्रा द्वैतवादी के रूप में शुरू करनी चाहिए, अद्वैतवाद का अनुभव करना चाहिए और पुनः द्वैतवाद की ओर लौट आना चाहिए। सफल यात्रा की समाप्ति आरम्भ स्थान पर ही होती है।

समर्पण की प्रक्रिया को योग का पांचवा अथवा अंतिम (चरम परिणति का) मार्ग कहा जा सकता है, दूसरे चार मार्ग हैं— सेवा, ब्रह्मज्ञान, भक्ति और ध्यान। दयालु प्रभु प्राणियों

के मन और इन्द्रियों को उनकी कर्मप्रसूत इच्छाओं के अनुसार निर्देशित करता है। किन्तु समर्पित भक्त के श्रेष्ठ हित के लिए प्रभु अपनी इच्छा से भक्त की इन्द्रियों को नियंत्रित करता है। स्वामी चिदानन्द सरस्वती (मुनिजी) ने इस प्रक्रिया का विश्लेषण सुन्दर ढंग से किया है। वे कहते हैं: हर वेदना, हर दर्द, हर असुविधा प्रभु का वरदान और कृपा बन जाती है, जब हम उसे प्रभु के हाथ में सौंप देते हैं। यदि तुम अपने जीवन की बागडोर प्रभु के हाथों में सौंप दोगे, तो तुम सदा के लिए सुखी और शान्त हो जाओगे। यह है चरम समर्पण का पाठ, जो मुनिजी देते हैं। साधना के बिना समर्पण तथा समर्पण के बिना साधना अधूरी रहती है।

यह दैवी कृपा या शक्ति ही है, जो आत्मप्रयास के रूप में आती है। प्रसाद और प्रयास तथा द्वैतवाद और अद्वैतवाद परमसत्य के सिक्के के दो पहलू हैं और कुछ नहीं। प्रभु-कृपा हमेशा उपलब्ध है, व्यक्ति को उसे लेने की जरूरत है। कृपा का वरदान पाना सुगम नहीं है। व्यक्ति को इसे सच्ची साधना और प्रयास से अर्जित करना पड़ता है। प्रभु-कृपा हमारे श्रेष्ठ कर्मों का क्रीम है, श्रेष्ठतम अंश है। कहा गया है कि आत्मप्रयास नितान्त अनिवार्य है, किन्तु परमात्मा को पाने के सोपान का अन्तिम डण्डा आत्मप्रयास नहीं, बल्कि समर्पण की भावना से प्रभुकृपा के लिए प्रार्थना करना है। साधना के बिना समर्पण तथा समर्पण के बिना साधना अधूरी रहती है। जब सब कुछ प्रभु को अर्पण कर दिया जाता है और जब व्यक्ति सचमुच यह समझ जाता है कि प्रभु ही गन्तव्य, पथ और पथिक तथा पथ की बाधाएं भी हैं; तब गुण, अवगुण, पुण्य, पाप आदि शक्तिहीन और हानिशून्य हो जाते हैं, जैसे कि विषदन्त-विहीन नाग।

श्री शंकराचार्य के अनुसार यदि परब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ विद्यमान दिखाई देता है, तो वह मृगमरीचिका की भांति अवास्तविक है, जैसे कि रज्जु में सर्प का आभास। जब कोई पूर्णतः यह समझ जाता है कि संसार में परमात्मा और उसकी लीला (माया) को छोड़कर कुछ भी नहीं है, तब उसके सब कर्म समाप्त हो जाते हैं, व्यक्ति प्रभु की इच्छा के सामने समर्पण कर देता है और मुक्ति पा लेता है। श्री युक्तेश्वर जी का कहना है— मानव-जीवन शोक से ग्रस्त रहता है, जब तक हम प्रभु की इच्छा के सामने समर्पण करना नहीं सीख जाते, या ईश्वरीय इच्छा, जो हमारी बुद्धि को चकरा देती है, के साथ एकात्म नहीं हो जाते। कुरआन का कहना है— जो भी मेरे मार्गदर्शन का अनुसरण करते हैं, उन्हें कोई भय व्याप्त नहीं होगा (सूरा २.३८)। ब्रह्मज्ञानी शोक से ऊपर उठ जाता है।

परमात्मा की परम सेवा तथा सर्वोत्तम दान

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

(गीता के) इस गुह्यतम ज्ञान को तपरहित और भक्तिरहित व्यक्तियों को, अथवा जो इसे सुनना नहीं चाहते हों, अथवा जिन्हें मुझमें श्रद्धा न हो; उन लोगों से कभी नहीं कहना चाहिए। (१८.६७)

प्रमित व्यक्ति से ज्ञान की बात करना, लोभी से त्याग की महिमा का वर्णन करना, क्रोधी को संयम की सलाह देना और लम्पट व्यक्ति से भगवान् श्रीराम के पराक्रमों का विवेचन करना उतना ही निरर्थक है, जितना बंजर भूमि में बीज बोना (तु.रा. ५.५७.०१-०२)। अल्लाह की अनुमति में विश्वास करना किसी प्राणी के बस में नहीं है। तुम्हें किसी को भी अल्लाह में विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए (सूरा १०.१००-१०१)। कोई भी जिसे अल्लाह ने ज्ञान का प्रकाश प्रदान नहीं किया है, प्रकाश नहीं पायेगा (सूरा २४.४०)। गीता का अध्ययन केवल आस्थावान् व्यक्तियों के लिए है। रामकृष्ण के अनुसार व्यक्ति प्रभु

को उतना ही समझेगा, जितना प्रभु उसे समझाना चाहेगा। गुरु नानकदेव कहते हैं: हे प्रिय प्रभु, केवल वही, जिन्हें तुम दिव्यज्ञान देते हो, उसे पाते हैं।

बाइबिल का कहना है— कुत्तों को मत दो, जो पावन है। अपने मोतियों को सूअरों के सामने मत फेंको; वे उन्हें केवल अपने पैरों तले रौंदेंगे ही (मैत्थ्यु ७.०६)। कोई भी मेरी ओर नहीं आयेगा, अगर परमपिता, जिसने मुझे भेजा है, उसे मेरी ओर आकर्षित नहीं करता है। (जॉन ६.४४)। ज्ञान के प्राप्तकर्ता में आध्यात्मिक प्रवृत्ति होनी चाहिए और उसे निष्ठापूर्वक इसकी खोज करनी चाहिए। बिना मांगे दिए गए ज्ञान से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। वैसा करने से बचना चाहिए। इस दुनिया में हर चीज का एक समय होता है। हम दुनिया को नहीं बदल सकते, बस बदल सकते हैं कुछ निष्ठावान् प्राणियों का जीवन, जिनके लिए प्रभु की कृपा से बदलने का समय आ गया होता है।

य इमं परमं गुह्यं मद्रक्तेष्व् अभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥६८॥

न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

जो व्यक्ति इस परम गुह्य ज्ञान का मेरे भक्तजनों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरी यह सर्वोत्तम पराभक्ति करके निस्सन्देह मुझे प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला कोई मनुष्य नहीं होगा; और न मेरा उससे ज्यादा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा। (१८.६८-६९)

अज्ञान ही सब पापों का जनक है। सभी नकारात्मक गुण — जैसे काम, क्रोध और लोभ आदि — अज्ञान की अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानदान श्रेष्ठतम दान है। ज्ञानदान का फल समूची पृथ्वी का दान देने के बराबर माना जाता है (म.भा. १२.२०६.११३)। सर्वश्रेष्ठ भलाई दूसरों को उनकी अपनी वास्तविक प्रकृति — जो शाश्वत सुख का स्रोत है — को ढूँढने में सहायता करना है, न कि अस्थायी सुख के लिए भौतिक पदार्थ प्रदान कराना। बाइबिल का कहना है—जो भी नियमों का पालन करता है और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा देता है, स्वर्ग के राज्य में महान् होगा (मैत्थ्यु ५.१६)। सुख धन और इन्द्रियों की तुष्टि से नहीं मिलता, मिलता है किसी उदात्त उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखने में (हेलेन केलर)।

गीता की महिमा

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादम् आवयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥७०॥

जो व्यक्ति हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊंगा— यह मेरा वचन है। (१८.७०)

प्रभु और उसके शब्द एक ही हैं, वही हैं। गीता का अध्ययन श्रीकृष्ण की पूजा और भक्ति के समान है। आधुनिक समाज में जीवन बस काम है, अध्यात्म नहीं। स्वामी हरिहर जी कहते हैं: "गीता के केवल कुछ श्लोकों का दैनिक अध्ययन करने से मानसिक बैटरी में पुनः ऊर्जा पैदा होगी और आधुनिक समाज के उदासीन रूटीन जीवन को कुछ अर्थ मिलेगा।" गम्भीर अध्येताओं के लिए गीता के एक अध्याय के दैनिक अध्ययन, या इस पुस्तक के अन्त में दिए चुने हुए चालीस श्लोकों के अध्ययन की अनुशंसा की जाती है।

श्रद्धावान् अनसूयश्च शृणुयाद् अपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभौ लोकां प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

तथा जो श्रद्धापूर्वक बिना आलोचना किए इसे सुनेगा, वह भी सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यवान् लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा. (१८.७१)

शास्त्रों में श्रीमद्भगवद्गीता की महिमा विस्तार से गाई गई है, उसका सारांश नीचे दिया गया है. गीता की इस महिमा के पाठ से हृदय में आस्था और भक्ति उपजेगी, जो गीता के अध्ययन के लाभों को पाने के लिए आवश्यक है.

मानव-जन्म का ध्येय मन और इन्द्रियों पर विजय पाना और अपनी नियति को पहुंचना है. इस उदात्त ध्येय की उपलब्धि में गीता का नियमित अध्ययन निश्चय ही सहायक है. जो गीता का अध्ययन नियमित रूप से करता है, वह सुख, शांति, समृद्धि पाता है और सांसारिक कर्तव्यों के पालन में लिप्त होते हुए भी कर्म के बंधन से मुक्ति पा लेता है. जो गीता का पाठ प्रतिदिन करता है, वह पाप से अपावन नहीं होता; वैसे ही जैसे कमलपत्र को जल पंकित नहीं करता है. गीता भगवान् कृष्ण का पुण्यतम धाम है. प्रभु की आध्यात्मिक क्षमता गीता के प्रत्येक पद में निहित है. मानवता के लाभ के लिए भगवान् ने स्वयं वेदों का सार रखनेवाले ब्रह्मज्ञान के परम विज्ञान को उच्चारित किया. यदि कोई गीता का अध्ययन गम्भीरता-पूर्वक करता है और इसके श्लोकों के अर्थों का मनन करता है तथा इसकी शिक्षाओं का अपने दैनिक जीवन में अनुसरण करता है, तो उसे अन्य किसी धर्मग्रन्थ का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं होती.

कच्चिद् एतच् द्युतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिद् अज्ञानसंमोहः प्रनष्टस् ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इसे सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञानजनित भ्रम पूर्ण रूप से नष्ट हुआ? (१८.७२)

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर लब्धा त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले— हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है और मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है. अब मैं संशयरहित हो गया हूँ और मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा. (१८.७३)

जब प्रभु की कृपा से कोई प्रभु को पा लेता है, तब अज्ञान की गाँठें ढीली हो जाती हैं, सब संदेहों और भ्रमों का निराकरण हो जाता है और सब कर्म शून्य हो जाते हैं (मु.उ. २.०२.०८). सच्चा ब्रह्मज्ञान प्रभुकृपा से ही प्राप्त होता है.

संजय उवाच—

इत्य् अहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादम् इमम् अश्रौषम् अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय बोले— इस प्रकार मैंने भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना. (१८.७४)

व्यासप्रसादाच् द्युतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम् ।

योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गुह्य ज्ञान को (अर्जुन से कहते हुए) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् से सुना है. (१८.७५)

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतम् ।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर् मुहुः ॥७६॥

हे राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र (अर्थात् कल्याणकारी) और अद्भुत संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७६)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्, श्रीहरि के अत्यन्त अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ. (१८.७७)

आत्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर् विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम ॥७८॥

जहां भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्मरक्षा एवं कर्मरूपी) शास्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)

यतो धर्मस्ततः कृष्णो, यतः कृष्णस्ततो जयः अर्थात् जहां धर्म है, वहीं श्रीकृष्ण हैं; जहां श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है (म.भा. ६.४३.६०). परिवार में शाश्वत शान्ति और समृद्धि पूर्ण ब्रह्मज्ञान के साथ अपने कर्तव्यपालन से ही सम्भव है. किसी राष्ट्र की शान्ति और समृद्धि शास्त्रों के ज्ञान और देश की रक्षा के लिए शस्त्र के ज्ञान और उपयोग तथा विज्ञान और तकनीकी ज्ञान दोनों में निष्णात होने पर निर्भर करती है. कहा गया है कि आध्यात्मिकता के बिना विज्ञान और तकनीकी ज्ञान अन्धे हैं और तकनीकी ज्ञान के बिना आध्यात्मिकता लंगड़ी है.

इस प्रकार मोक्षसंन्यासयोग नामक
अठारहवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ.

उपसंहार

भगवान् श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश

विश्व में धर्म-संस्थापना के दुरूह कार्य को सम्पन्न करने के बाद इस भूलोक कर्मक्षेत्र से प्रस्थान करने की पूर्वसंध्या पर भगवान् कृष्ण ने अपने परमप्रिय भक्त और अनुगामी बन्धु उद्धव को अपना अन्तिम संदेश दिया. एक हजार श्लोकों से भी अधिक लम्बे इस उपदेश के उपरान्त उद्धव ने कहा— हे प्रभो, मेरे विचार में अधिकतर लोगों के लिए उस योग का पालन निश्चय ही बहुत कठिन है, जिसका वर्णन आपने पहले अर्जुन के और अब मेरे समक्ष प्रस्तुत किया है, क्योंकि उसके लिए बेलगाम इन्द्रियों पर नियंत्रण पाना अत्यन्त आवश्यक है. कृपया मुझे प्रभुप्राप्ति का सरल और संक्षिप्त मार्ग बताएं. उद्धवजी की प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने आधुनिक युग के लिए आत्मबोध के जिन अनिवार्य तत्त्वों का वर्णन किया, वे निम्नलिखित हैं—

(१) बिना स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के मेरे (प्रभु के) लिए अपनी क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करो. किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले, कार्य सम्पन्न होने के बाद और निष्क्रिय होते समय भी सदा मेरा स्मरण करो. (२) मनसा-वाचा-कर्मणा सब जीवों में मेरा ही दर्शन करने का अभ्यास करो और मन से सब के सम्मुख झुककर प्रणाम करो. (३) अपनी प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करो और मन, इन्द्रियों तथा श्वासों और भावों की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण अपने भीतर भगवान् की

शक्ति को देखो, जो तुम्हें मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग कर सतत सब कार्य कर रही है।

योगी मुमताज्ञ अली कहते हैं— जो व्यक्ति अपने को पूर्णतः प्रकृति मां का लीलाक्षेत्र और माध्यम मात्र जानता है, वह सत्य का ज्ञाता है। विश्व और मानव-मन के वास्तविक तत्त्वबोध से सब इच्छाओं का शमन ही आत्मबोध है। हरिहरानन्द गिरि कहते हैं: प्रभु सबमें है और सर्वोपरि है। अतः यदि तुम्हें प्रभु को पाना है, तो तुम्हें उसकी खोज हर अणु में, हर पदार्थ में, हर शारीरिक क्रिया में और हर मानव में समर्पण की भावना से करनी चाहिए।

मुनि जी कहते हैं— हमें भगवान् का माली होना चाहिए। ध्यान से उपवन की देखभाल करते हुए कभी भी हमें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए कि क्या पुष्पित पल्लवित होगा, क्या फल देगा और क्या सुख जाएगा, मर जाएगा। किसी वस्तु की अपेक्षा कुण्ठा की जननी है और स्वीकृति शान्ति देती है। भगवान् कृष्ण ने अन्य शास्त्रग्रन्थों (भा.पु. २.०९.३२-३५) में प्रभुप्राप्ति के तात्विक ज्ञान का सारांश इस प्रकार दिया है—

परमप्रभु कृष्ण ने कहा— जो मुझ परमपुरुष को जानना चाहता है, उसे केवल यह समझना चाहिए कि मैं सृष्टि के पहले भी विद्यमान था, मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और प्रलय के बाद भी हूँगा। शेष अस्तित्व मेरी माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं सृष्टि में विद्यमान हूँ और सृष्टि के बाहर भी। मैं सर्वव्यापी परमप्रभु हूँ, जो सर्वत्र, सब वस्तुओं में और सब कालों में विद्यमान है।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यह ग्रन्थ भगवान् कृष्ण को समर्पित है
प्रभु पाठकों को अच्छाई, समृद्धि,
और शान्ति प्रदान करें

श्रीगीताचालीसा (दैनिक पाठ के लिए)

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
मूकं करोति वाचालं पद्भुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥२॥

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत संजय ॥१.०१॥

धृतराष्ट्र बोले— हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या-क्या किया ? (१.०१)

संजय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥२.०१॥

संजय बोले— इस तरह करुणा से व्याप्त, आंसूभरे, व्याकुल नेत्रोंवाले, शोकयुक्त अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा. (२.०१)

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यान् अन्वशोचस्व त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासून अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२.११॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन, तुम ज्ञानियों की तरह बातें करते हो, लेकिन जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए शोक करते हो. ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं करते. (२.११)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर् धीरस् तत्र न मुह्यति ॥२.१३॥

जैसे इसी जीवन में जीवात्मा बाल, युवा, और वृद्ध शरीर प्राप्त करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त करता है. इसलिए धीर पुरुष को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए. (२.१३)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२.२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नए वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर प्राप्त करता है. (२.२२)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि ॥२.३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि, और जीत-हार की चिन्ता न करके मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य कर्म करना चाहिए। ऐसे भाव से कर्म करने पर मनुष्य को पाप (या कर्म का बन्धन) नहीं लगता। (२.३८)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर् भूर् मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ॥२.४७॥

केवल कर्म करना ही मनुष्य के वश में है, कर्मफल नहीं। इसलिए तुम कर्मफल की आसक्ति में न फँसो, तथा अपने कर्म का त्याग भी न करो। (२.४७)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२.५०॥

कर्मफल की आसक्ति त्यागकर काम करनेवाला निष्काम कर्मयोगी इसी जीवन में पाप और पुण्य से मुक्त हो जाता है, इसलिए तू निष्काम कर्मयोगी बन। निष्काम कर्मयोग को ही कुशलतापूर्वक कर्म करना कहते हैं। (२.५०)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावम् इवाम्बसि ॥२.६७॥

जैसे जल में तैरती नाव को तूफान उसके लक्ष्य से दूर टकेल देता है, वैसे ही इन्द्रिय-सुख मनुष्य की बुद्धि को गलत रास्ते की ओर ले जाता है। (२.६७)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥३.२७॥

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपने आपको कर्ता समझ लेता है, तथा कर्मफल के बंधनों से बंध जाता है। मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की एक कठपुतली मात्र है। (३.२७)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३.४३॥

आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन, आदि से किए हुए शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो। (३.४३)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४.०७॥

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्मकी हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं, परब्रह्म परमात्मा, प्रकट होता हूँ। (४.०७)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारम् अपि मां विद्ध्य अकर्तारम् अव्ययम् ॥४.१३॥

मेरे द्वारा ही चारों वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव, और रुचि अनुसार बनाए गए हैं। सृष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी तथा अकर्ता ही जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं। (४.१३)

कर्मण्य् अकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४.१८॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है वही ज्ञानी, योगी, तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है. अपनेको कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है. (४.१८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर् ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४.२४॥

यज्ञ का अर्पण, घी, अग्नि, तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ परमात्मा स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते ।

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४.३८॥

कर्मयोग मनुष्य के चित्त और बुद्धि को शुद्ध करके उसके सभी कर्मों को पवित्र कर देता है. ठीक समय आने पर शुद्ध बुद्धि द्वारा योगी ईश्वर का दर्शन करता है. (४.३८)

संन्यासस् तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर् ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५.०६॥

हे अर्जुन, कर्मयोग की निःस्वार्थ सेवा के बिना शुद्ध संन्यास-भाव, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग, प्राप्त होना कठिन है. निष्काम कर्मयोगी शीघ्र ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है. (५.०६)

ब्रह्मण्य् आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्बसा ॥५.१०॥

जो मनुष्य कर्मफल में लोभ और आसक्ति त्यागकर, सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पण करता है, वह कमल के पत्ते की तरह पापरूपी जल से कभी लिप्त नहीं होता. (५.१०)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६.३०॥

जो मनुष्य सब जगह तथा सबमें मुझे परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है, और सबको मुझमें ही देखता है, मैं उससे अलग नहीं रहता तथा वह भी मुझे से दूर नहीं होता. (६.३०)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७.१६॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम पुरुष — दुःख से पीड़ित, परमात्मा को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छावाले, तथा ज्ञानी — मुझे भजते हैं. (७.१६)

बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७.१६॥

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करते हैं; ऐसे महात्मा बहुत दुर्लभ हैं. (७.१९)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।
परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम् ॥७.२४॥

अज्ञानी मनुष्य मुझे परब्रह्म परमात्मा के – मन, बुद्धि, तथा वाणी से परे, परम अविनाशी – दिव्यरूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूपवाला निराकार हूँ; तथा रूप धारण करता हूँ: (७.२४)

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्य् अन्ते कलेवरम् ।
तं तं एवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥८.०६॥

हे अर्जुन, मनुष्य मृत्यु के समय जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह सदा उस भाव के चिन्तन करने के कारण उसी भाव को प्राप्त होता है. (८.०६)

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च ।
मय्य् अर्पितमनोबुद्धिर् माम् एवैष्यस्य असंशयम् ॥८.०७॥

इसलिए हे अर्जुन, तू सदा मेरा स्मरण कर, और अपना कर्तव्य कर. इस तरह मुझमें अर्पण किए मन और बुद्धि से युक्त होकर निःसन्देह तुम मुझको ही प्राप्त होगे. (८.०७)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥८.१४॥

हे अर्जुन, जो मुझमें ध्यान लगाकर नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सहज ही प्राप्त होता हूँ: (८.१४)

अनन्याश् चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य् अहम् ॥६.२२॥

जो भक्तजन अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ: (९.२२)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तद् अहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥६.२६॥

जो मनुष्य प्रेमभक्ति से पत्र, फूल, फल, जल, आदि कोई भी वस्तु मुझे अर्पण करता है, मैं उस शुद्धचित्तवाले भक्त का वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसका भोग भी करता हूँ: (९.२६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
माम् एवैष्यसि युक्तवैवम् आत्मानं मत्परायणः ॥६.३४॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर. इस प्रकार मेरा परायण होने से तुम मुझे ही प्राप्त होगे. (९.३४)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥१०.०८॥

मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ; और मुझसे ही जगत् का विकास होता है। ऐसा जानकर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धापूर्वक मुझे परमेश्वर को ही निरन्तर भजते हैं। (१०.०८)

मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स माम् एति पाण्डव ॥११.५५॥

हे अर्जुन, जो पुरुष मेरे लिए ही कर्म करता है, मुझपर ही भरोसा रखता है, मेरा भक्त है, तथा जो आसक्ति-रहित और निर्वैर है, वही मुझे प्राप्त करता है। (११.५५)

मध्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मध्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२.०८॥

मुझमें ही अपना मन लगा, और बुद्धिसे मेरा ही चिन्तन कर, इसके उपरान्त निःसंदेह तुम मुझमें ही निवास करोगे। (१२.०८)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३.२७॥

जो पुरुष अविनाशी परमेश्वर को ही समस्त नश्वर प्राणियों में समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में ईश्वर का दर्शन करता है। (१३.२७)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४.२६॥

जो पुरुष अनन्यभक्ति से मेरी उपासना करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। (१४.२६)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५.१५॥

मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूँ; स्मृति, ज्ञान, तथा शंका-समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझसे ही होता है। समस्त वेदों के द्वारा जाननेयोग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता, तथा वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ। (१५.१५)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनम् आत्मनः ।
कामः क्रोधश्च तथा लोभश्च तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् ॥१६.२१॥

काम, क्रोध, और लोभ मनुष्य को नरक की ओर ले जानेवाले तीन रास्ते हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए। (१६.२१)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७.१५॥

वाणी वही अच्छी है जो दूसरों के मन में अज्ञान्ति पैदा न करे, जो सत्य, प्रिय, और हितकारक हो, तथा जिसका उपयोग शास्त्रों के पढ़ने में हो। (१७.१५)

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश् चास्मि तत्त्वतः ।
ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥१८.५५॥

मुझे श्रद्धा और भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है कि मैं कौन हूँ और क्या हूँ: मुझे जानने के पश्चात् मनुष्य मुझमें ही प्रवेश कर जाता है. (१८.५५)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८.६१॥

हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर अपनी माया के द्वारा मनुष्य को कठपुतली की तरह नचाते रहता है. (१८.६१)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८.६६॥

सम्पूर्ण धर्मों का (अर्थात् पुण्य कार्यों का भी) परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आ जाओ. शोक मत करो, मैं तुम्हें समस्त पापों (अर्थात् कर्म के बंधनों) से मुक्त कर दूंगा. (१८.६६)

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु अभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा माम् एवैष्यत्य् असंशयः ॥१८.६८॥

जो पुरुष श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक (गीता के) इस ज्ञान का मेरे भक्तों के बीच प्रचार और प्रसार करेगा, वह मेरा सबसे प्यारा होगा और निःसन्देह मुझे प्राप्त करेगा. (१८.६८)

संजय उवाच—
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर् विजयो भूतिर् ध्रुवा नीतिर् मतिर् मम ॥१८.७८॥

संजय बोले— जहाँ भी, जिस देश या घर में, (धर्म अर्थात् शास्त्रधारी) योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा (धर्मरक्षा एवं कर्मरूपी) शास्त्रधारी अर्जुन दोनों होंगे, वहीं श्री, विजय, विभूति, और नीति आदि सदा विराजमान रहेंगी. ऐसा मेरा अटल विश्वास है. (१८.७८)

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

=====
कृपया सहयोग दान के लिए हमें संपर्क करें
International Gita Society
511 Lowell Place
Fremont, Ca 94536-1805, USA

Phone: 510 791 6953

Email: sanjay@GitaInternational.com

Also visit us:

For Hindi Gita: www.gita-society.com/hindi.htm

For Absolutely Free Gita:

www.gita-society.com/freegita.htm